वर्ष–11, अंक–06
इंटरनेट संस्करण : 177

पत्रिका गर्भनाल

www.garbhanal.com
ISSN 2249–5967
अगस्त 2021
(An International Peer Reviewed (Referred) Research Journal)

अंतरराष्ट्रीय विद्वत्समीक्षित मूल्यांकित मासिक शोध पत्रिका

मुखौटे की ज़रूरत

2006 से निरंतर प्रकाशित ई-पत्रिका

गर्भनाल

प्रवासी भारतीयों का रचनात्मक मंच

www.garbhanal.com

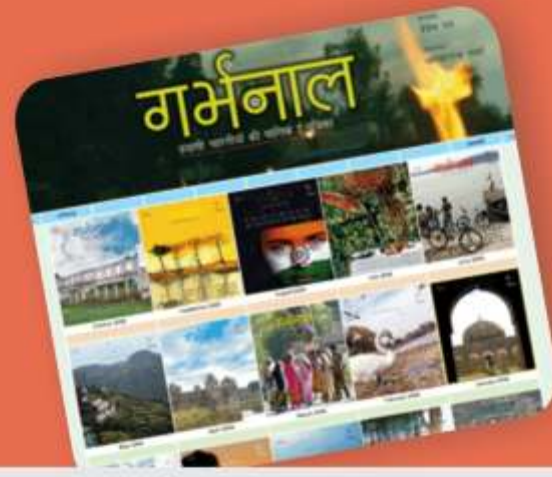

दुनिया के 40 देशों में
2 लाख से ज्यादा
ईमेल पतों पर
नियमित भेजी जाती है।

www.garbhanal.com

अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें :
garbhanal@ymail.com

गर्भनाल पत्रिका

अंतरराष्ट्रीय विद्वत्समीक्षित मूल्यांकित मासिक शोध पत्रिका
(An International Peer Reviewed (Referred) Research Journal)

वर्ष-11, अंक-06 (इंटरनेट संस्करण : 177)

अगस्त 2021

सम्पादकीय सलाहकार

कविता विकास

परामर्श

डॉ. हाइंस वर्नर वेसलर, स्वीडन
डॉ. राघबेन्द्र झा, ऑस्ट्रेलिया
अनिल जनविजय, रूस
अजय भट्ट, बैंकाक
ललित मोहन जोशी, ब्रिटेन
उमेश ताम्बी, अमेरिका
आशा मोर, ट्रिनिडाड
डॉ. ओम विकास, भारत

समीक्षा समिति (Peer Reviewed Committee)

डॉ. धर्मेन्द्र पारे
निदेशक
जनजातीय लोक कला एवं बोली विकास अकादमी, भोपाल

प्रो. हरीश अरोड़ा
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय
महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

डॉ. प्रमोद कुमार तिवारी
सहायक प्राध्यापक
गुजरात केंद्रीय विश्वविद्यालय, गांधीनगर

राहुल उपाध्याय
भाषा विशेषज्ञ, सिएटल, अमेरिका

सम्पादक

सुषमा शर्मा

आकल्पन सहयोग

डॉ. बृजेश तिवारी, लखनऊ

आवरण चित्र

मनीष गुप्ता, सिएटल, अमेरिका
यह कलाकृति माइक्रोसॉफ़्ट कर्मचारी कला प्रदर्शनी, सिएटल में प्रस्तुत की गई। प्रदर्शनी और अन्य कला संबद्ध उपक्रम कलाकारों को वैश्विक माइक्रोसॉफ़्ट समुदाय के साथ अपने रचनात्मक प्रयोग साझा करने का अवसर प्रदान करते हैं।

कानूनी सलाहकार

संजीव जायसवाल

सम्पर्क

डीएक्सई-23, मीनाल रेसीडेंसी,
जे.के. रोड, भोपाल-462023 (म.प्र.) भारत.
ईमेल : garbhanal@ymail.com

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से अनुदान प्राप्त

प्रकाशक, मुद्रक एवं स्वामी सुषमा शर्मा के लिए शान्ति एन्टरप्राइस, एच.नं. 2, चित्तौड़ कॉम्पलेक्स, जोन-1, एम.पी. नगर, भोपाल द्वारा मुद्रित एवं डीएक्सई-23, मीनाल रेसीडेंसी, जे.के. रोड, भोपाल से प्रकाशित।

नर देवता

बायो-पिक, एक...

आंगन की धूप

सम्पादकीय	: मुखौटे की ज़रूरत	2
विमर्श	: मैं हिंदी-उर्दू क्यों सिखाता हूँ *रिचर्ड डिलेसी*	3
बतकही	: नरदेवता *गंगानंद झा*	6
विचार	: भय क्यों? *शैल अग्रवाल*	8
	: मुखौटे उतार फेंको! *मनीष कुमार गुप्ता*	11
स्मरण	: आचार्य हेल्मूट फ़ॉन ग्लासेनप्प *प्रो. शकुन्तला बहादुर*	13
	: हिंदी के प्रतीक : राजर्षि टंडन प्रकाश मनु	15
आलेख	: ताकि बचा रहे बचपन *प्रतिभा चौहान*	19
आओ जानें	: मौलिक बल : एक परिचय प्रो. अनिल कुमार	23
चर्चा	: बायो-पिक, एक केमिस्ट्री गौतम सिद्धार्थ	30
व्याख्या	: निजताधिकार के प्रणेता भगवान गणेश *मुरलीधर वैष्णव*	33
जूम-सम्वाद	: अनुवाद और प्रकाशन की संकरी जगह भरत शर्मा	35
कहानी	: आंगन की धूप *भारती सिंह*	40
पुस्तकायन	: खिड़कियों से झांकते अपने-अपने एकांत *विपिन पवार*	42
कविता-भारती	: डॉ. याकूब की तेलुगु कविता *हिंदी अनुवाद मो. अम्जद अली*	44
कविता	: फेसबुक का हासिल *डॉ. अविनाश श्रीवास्तव*	46
	मिलन परीक्षा *मृणाल शर्मा*	47
शोध-आलेख	: सत्यजित राय की फ़िल्म 'सद्गति' का 'सद्' *डॉ. अमरेन्द्र कुमार शर्मा*	48
	अस्तित्व की तलाश में सिमरन *डॉ. रुचिरा ढींगरा*	52
	काव्य-वीणा का एक तार टूट गया *डॉ. मुकेश कुमार मिश्र*	57

मुखौटे की ज़रूरत

एक चेहरे पे कई चेहरे लगा लेते हैं लोग, वर्षों पहले लिखा ये गीत आज भी उतना ही सटीक है, यानि ज़माने की फ़ितरत है यह, नक़ली चेहरा सामने आए, असली सूरत छिपी रहे। आख़िर इन मुखौटों की ज़रूरत क्या है? सामाजिक मान-मर्यादा क़ायम रखने की क़वायद या दिखावे की आड़ में उन सबको पा लेने की चाहत जो कभी हासिल नहीं हुई। मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि इंसान का सबसे बड़ा डर है कि असल रूप उजागर हो गया तो मामूली समझकर उसे दुत्कार दिया जाएगा। यह डर बेबुनियाद है। आदमी का असल रूप किसी भी अवस्था में हो, उसे न झूठ बोलने की आवश्यकता है न छुपाने की। कहा गया है कि हर वो चीज़ जो ज़िन्दगी में आवश्यकता से अधिक है, वही ज़हर है। झूठे मान-मर्यादा को दिखाने में आदमी को ज़्यादा दौड़भाग करनी पड़ती है जो उसका सुख-चैन छीन लेती है। मुखौटा चढ़ाने वाले व्यक्ति को खोखले दिखावे की ऐसी लत लगी होती है कि उसे बारम्बार बदलना पड़ता है भले ही असली चेहरे में धूप और हवा की कमी से सीलन हो जाए।

किसी भी बड़े आदमी को देखिए, उनके असली और ईमानदार चेहरे की मासूमियत ही उन्हें बड़ा बनाती है। गांधीजी और एपीजे अब्दुल कलाम इसके सशक्त उदाहरण हैं। बड़ा बनने के लिए धन-वैभव नहीं, हुनर और गुण की ज़रूरत होती है। भारत का संविधान लिखने वाले भीमराव अम्बेडकर की संघर्ष गाथा कौन नहीं जानता। जातिवाद का शिकार होने के बाद भी उन्होंने अपनी पहचान नहीं छुपायी। अपने असली रूप में जीवनपर्यन्त सक्रिय रहते हुए वे दलित समुदाय के मसीहा बन गए।

ऑस्कर वाइल्ड ने कहा है, "ख़ुद जैसे बनो, बाकियों जैसे पहले से मौजूद हैं।" मुश्किल यह है कि हम भेड़चाल में शामिल होकर भीड़ का हिस्सा बनने की कोशिश करते हैं और कुछ अलग होकर करने में या तो डरते हैं या झिझकते हैं।

आत्मविश्वास की कमी ही हमें मुखौटा लगाने को विवश करती है और हम वास्तविकता से भागने लगते हैं। हम चाहे जिस रूप में हों, उसी रूप को स्वीकारना हमारा धर्म है। रंग, रूप, पद, गरिमा, शान-शौक़त आदि ईमानदारी से ही चमकते हैं। उनमें ज़रा भी दिखावे और छल का पुट हो तो उनकी चमक तुरंत धुमिल पड़ जाती है। छद्मवेश में रहने वाले अंततः अपने मूल स्वरूप को ही भूल जाते हैं।

मुझे याद है, बचपन में गरमी के मौसम में बहुरूपिये आते थे। कभी काली, कभी हनुमान, कभी जादूगर आदि के रूप धारणकर आने वाले इन बहुरूपिये को देखकर जब हम डर जाते, तब हमें समझाया जाता था कि अरे ये असली थोड़ी हैं। एक ही आदमी हर दिन अलग-अलग वेश धर कर आता है और पैसे माँगता है जिससे उसकी जीविका चलती है। पेट पालने की उनकी मजबूरी तो समझ में आती है जिसके कारण वे मुखौटे लगा कर आते हैं, लेकिन समाज में ऐसे लोगों की बहुलता है जिनके लिए कमाई से ज्यादा बड़ा ओहदा है जिस पर वे छद्म रूप में टिके रहना चाहते हैं। एक को चार बनाकर बतलाना उनकी आदत होती है।

माँग कर पहनना, माँग कर खाना, माँग कर गाड़ियों का इस्तेमाल करना आदि ऐसे कई उदाहरण हैं जो दिखावे की आड़ में की जाती है। भले ही इनके लिए उन्हें मान-सम्मान भी खोना पड़े। पोल खुल जाने के डर से ऐसे लोगों को अपने बहाने भी जल्दी-जल्दी बदलने पड़ते हैं। यानी एक झूठ को बचाने के लिए अनेक झूठों का सहारा लेना पड़ता है। ऐसे लोगों का अधिकतर समय ख़ुद को बचाने के रास्ते ढूँढने में ही चला जाता है। इसके विपरीत सादा जीवन और उच्च विचार वाले अपनी सादगी में ही इतने प्रसन्न रहते हैं कि खाली समय का उपयोग ये अपनी सोच को सकारात्मकता से उत्तम करने और विचार को सुदृढ़ करने में लगाते हैं। मुखौटे के बिना रहने वालों को कुछ नहीं छिपाना पड़ता है। वे साफ़ पानी के जैसे होते हैं जिनके आर-पार देखा जा सकता है। समाज और देश को ऐसे लोगों की ज़रूरत है जो अपने वास्तविक रूप और मेहनत के दम पर देश का नाम ऊँचा करते हैं। बाज़ की उड़ान में पंख के फड़फड़ाने की आवाज़ नहीं होती। आसमान में उसी के पंख प्रबल होते हैं जो श्रम और ईमानदारी से आगे बढ़ते रहते हैं। जहाँ सम्पूर्णता होती है वहाँ दिखावा नहीं होता। ज्ञान की गहराई मनुष्य को मौन कर देती है। फ़ालतू और अनावश्यक बोलने से अक्सर ही गरिमा कम होती है। ऐसे मुखौटे जिसे लगाकर किसी का अहित न हो अथवा सीमित समय और खास संदर्भ के लिये भले ही मान्य किया जाये, पर असलियत की मासूमियत और ईमानदारी का विकल्प कभी कोई नहीं हो सकता। ■

kavitavikas28@gmail.com

रिचर्ड डिलेसी

नवंबर, 1967 को मैल्बर्न, ऑस्ट्रेलिया में जन्म। हिंदी भाषा तथा साहित्य में पीएचडी की उपाधि प्राप्त की। हिंदी पाठ्यपुस्तकें, हिंदी उपन्यास तथा हिंदी सिनेमा पर अनेक आलेखों का प्रकाशन। संसार के अनेक देशों के अलावा चालीस से अधिक बार भारत यात्रा। सम्प्रति - हॉर्वर्ड विश्वविद्यालय, अमेरिका में स्नातक स्तर पर हिंदी-उर्दू का अध्यापन।

सम्पर्क : rdelacy@fas.harvard.edu

मैं हिंदी-उर्दू क्यों सिखाता हूँ

जब मैंने कहा कि मैं हिंदी सीखता हूँ तो वे चकित भाव से मुझे देखने लगे। उन्होंने मेरे जवाब को दोहराकर कहा "अच्छा, हिंदी सीखते हो? हिंदी सीखने से क्या फ़ायदा होगा?" ऐसा मालूम होता था कि कदाचित् मेरे इस जवाब से उन्हें तकलीफ़ हो रही थी।

बहुत साल पहले मैं उत्तर भारत में रेलगाड़ी से कहीं सफ़र कर रहा था। अब तो मुझे याद भी नहीं है कि मैं कहाँ से कहाँ तक जा रहा था, पर इतना तो याद है कि जो सज्जन मेरी बग़ल में बैठे, गाड़ी के छूटते ही उनसे बातचीत छिड़ गई। उन दिनों भारतयात्रा करते समय नियमानुसार मैं हिंदी का कोई उपन्यास या कहानियों का संग्रह लिये यात्रा के दौरान पढ़ने का प्रयत्न किया करता था। मुझे देखकर अक्सर मेरे सहयात्रियों को थोड़ा सा अचंभा होता था एवं कभी-कभार वे मुझसे बात करना शुरू कर देते थे। हालाँकि उस ज़माने में भारत में काफ़ी कुछ विदेशी लोग रेलगाड़ी से सफ़र करते थे, पर शायद कम ऐसे लोग मिलते थे जिसके हाथ में हिंदी का कोई उपन्यास दिखता हो। उस दिन उन सज्जन से बातचीत शुरू हुई और यात्रा के बारे में पूछने के बाद उन्होंने मुझसे यह पूछा कि तुम क्या करते हो? जब मैंने बताया कि मैं हिंदी सीखता हूँ, तब मैंने देखा कि वे चकित हो गए। ऐसा लग रहा था, मानो मेरी बात उनकी समझ में नहीं आ रही हो। मेरा जवाब दोहराकर उन्होंने कहा कि "हिंदी सीखते हो? हिंदी सीखने से क्या फ़ायदा होगा?" ऐसा मालूम होता था कि कदाचित् मेरे इस जवाब से उन्हें तकलीफ़ हो रही थी। उनकी तकलीफ़ दूर करने की चेष्टा करके मैंने कहा कि हिंदी सीखने के साथ-साथ मैं हिंदी पढ़ाने का छोटा-मोटा काम भी संभालता हूँ। स्पष्टीकरण करके मैंने जोड़ा कि मैं अमरीका के एक विश्वविद्यालय में हिंदी और उर्दू पढ़ाता हूँ। जब उन्होंने जाना कि मेरे पास नौकरी है, मैंने देखा कि उनकी तकलीफ़ दूर हो गई। लेकिन मेरा जवाब सुनकर पहले उनकी जो प्रतिक्रिया हुई, उसके बारे में मैं सोचता रहा। उनकी प्रतिक्रिया से स्पष्ट था कि वे सोचते थे कि हिंदी कोई सीखनेवाली चीज़ नहीं है। असल में मैं यह कह नहीं सकता था कि उनकी मातृभाषा क्या थी, लेकिन उन्हें हिंदी बराबर आती थी, इसमें कोई संदेह नहीं था। यह भी नहीं कह सकता था कि वे हिंदी भाषा के बारे में क्या सोचते थे। उसका आदर करते थे या नहीं। परंतु ऐसा ज़रूर लगा जैसे कि जब तक उन्हें मालूम नहीं हुआ कि हिंदी सीखते हुए मुझे बेरोज़गारी का सामना नहीं करना पड़ा, तब तक उन्हें मेरे भविष्य को लेकर थोड़ी सी चिंता हो रही थी, यह सोचकर कि भलीभाँति हिंदी सीखकर मुझे क्या लाभ होगा।

मेरे जवाब से रेलगाड़ी में बैठे उन सज्जन को जो व्याकुलता हो रही थी, उसका एक कारण मैं अच्छी तरह समझता हूँ। अर्थात् उन्हें इस बात की चिंता हो रही थी कि हिंदी सीखने का लक्ष्य प्राप्त कर के आर्थिक रूप से क्या लाभ होगा। रोज़ी रोटी की फ़िक्र किसे नहीं नहीं करनी पड़ती? कम से कम मैं, जो निम्न-मध्यवर्ग के परिवार में पैदा हुआ, कभी इस चिंता से मुक्त नहीं हो पाया। चाहे जो भी युग हो, यह एक कटु सच्चाई सदा रही है कि विश्व में अधिकतम लोगों के सामने नौकरी की समस्या सब से चिंताजनक है। और भारत में, जहाँ शताब्दियों से न तो केवल अंग्रेज़ी का दबदबा और वर्चस्व बना रहा है, वरन् जहाँ लगता है कि कम से कम संकल्पना के स्तर पर अधिकतर अंग्रेज़ी बाज़ार की भाषा के रूप में छाई रही हो, वहाँ बाज़ार से तथा समाज से हिंदी का क्या संबंध हो, यह तय करना सचमुच कठिन रहा है। लेकिन ये सब बातें भारत में किसे मालूम नहीं हैं। सारे भारत में जहाँ भी जाएँ, चाहे गाँव जाएँ, चाहे नगर जाएँ, महानगर या देश के किसी भी प्रांत जाएँ, लोग अपना भविष्य बनाने के लिए अंग्रेज़ी ग्रहण करना चाहते हैं। यह स्वाभाविक भी है, और उचित भी है। अंग्रेज़ी भूमंडलीकरण की भाषा भी है तो भला लोग इसे क्यों न सीखें? अगर कोई साहित्य रचना चाहे, यह

अक्सर ही भाषा सिखाने के दौरान व्याकरण भी सिखाते हैं। व्याकरण उस तथ्य का नाम है जिससे हमें आश्वासन मिलता है कि दुनिया में कुछ नियम हैं, कुछ निरंतरता है। व्याकरण अपने में एक दर्शन है संसार को समझने का। शायद इसलिए प्राचीनकाल में भारत में व्याकरण को एक दर्शन माना ही जाता था।

सपना देखकर कि दुनिया भर के बाज़ारों पर मेरी रचना छा जाए, तो अंग्रेज़ी ही में रचने से यह सपना साकार होने की अधिक संभावना रहेगी। यह भी लोग जानते हैं कि अगर कोई उच्च शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा मन में रखता हो, जिससे उसका भविष्य उज्जवल होने की संभावना बढ़ जाए, तो पहले अंग्रेज़ी सीखनी चाहिए, इसीलिए कि उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी ही है। तो अगर कोई आकर कहे कि वह हिंदी सीखना चाहता है, तो इस कथन पर प्रश्न उठाना बिल्कुल समझ में आता है।

परंतु जो प्रश्न मेरे सहयात्री ने उठाया, उसमें एक और गहरी बात भी निहित थी। मेरे हिसाब से एक और दृष्टि से भाषा के मामले में उनकी सोच बिल्कुल ठीक थी। हिंदी कोई सीखने, या सिखाने की वस्तु नहीं है। यही नहीं, बल्कि मैं कहूँगा कि हिंदी सिखाई नहीं जा सकती। इससे पूर्व कि आप सोचें कि क्या इसका अर्थ यह नहीं कि मैं, जो हिंदी पढ़ाने का छोटा सा काम सँभालता हूँ, ढोंगी तो नहीं हूँ, मैं स्पष्टीकरण करना चाहूँगा। यह तो एक वास्तविकता है कि भारत में लोगों को या तो हिंदी आती है, या नहीं आती। जैसे अमरीका में जिसकी पैदाइश होती है, उसे अंग्रेज़ी अवश्य आती है, चाहे उस के माता-पिता अमरीका के बाहर भी पैदा क्यों न हुए हों। अमरीका के स्कूलों में ज़्यादा से ज़्यादा लोग अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ते हैं और अच्छी तरह लिखना सीखते हैं। और यही होता है भारत में। बहुत साल पहले किसी ने मुझसे यह भी कहा कि हिंदी आते-आते आती है। उसकी यह अभिव्यक्ति मुझे बहुत ही अच्छी लगी विशेष रूप से व्याकरण की दृष्टि से और आज भी मैं माध्यमिक स्तर की कक्षा में इस का प्रयोग करता हूँ जब कृदंतों का प्रयोग क्रिया विशेषणों के रूप में सिखाने का समय आता है। यह एक बहुत ही सरल बात है, पर भाषा से समाज का जो मूल संबंध है, इस वाक्य में वह स्पष्ट दिखाई देता है। और यह बात हिंदी तक सीमित नहीं है। वरन् हरेक भाषा की बात है। वास्तव में भाषा केवल संप्रेषण का माध्यम ही नहीं, बल्कि भाषा के बल किसी समुदाय की सीमाएँ भी निर्धारित होती हैं। रहन-सहन, व्यवहार, लहजों, विचारों, चिंताओं, खान-पान, प्राथमिकताओं, रीति-रिवाजों, उठने-बैठने, मिलने-जुलने, और प्रथाओं के स्वरूप सब भाषा के साथ निर्धारित हो जाते हैं। ऊपर से ये सब बातें बहुत ही तेज़ी से बदलती जा रही हैं, और बदलती जाएँगी। जहाँ भी जाएँ, वहाँ जीवन का प्रवाह बहता हुआ मिलेगा। और अगर हम यह कह सकेंगे कि दो व्यक्ति कभी बिल्कुल एक से नहीं होते, तो इसका मतलब यह है कि किसी एक व्यक्ति की भाषा किसी दूसरे व्यक्ति की भाषा से कभी पूरी तरह नहीं मिल सकती। भाषा विज्ञान में इसे 'इडियोलेक्ट' (व्यक्तिगत भाषा) कहते हैं और यह सब कुछ तीव्रता से प्रतिदिन ही बदलता जा रहा है। उम्र के बढ़ने के साथ जैसे व्यक्ति बदलता जाता है, उसी भाँति उसकी भाषा भी बदलती जाती है। असल में भाषा कोई मूर्त वस्तु नहीं है, जो कि पकड़ी जा सकती है। नदी के प्रवाह की तरह वह एक सामाजिक प्रवाह है, जो कि कभी रुकता नहीं। भाषा आती है, और भाषा जाती है, आती रहती है और जाती रहती है। हवा में बुलबुले की तरह। जब हम किसी बोली का नाम रखना चाहते हैं वास्तव में हम उसपर अपना अधिकार जमाने का प्रयास कर रहे हैं। नाम रखने का अर्थ ग्रहण करना या किसी वस्तु पर नियंत्रण रखना है। लेकिन भाषा पर न तो कोई नियंत्रण रख सकता है, न कोई कह सकता है कि उसकी परिभाषा क्या है और उसकी सीमाएँ कहाँ होती हैं।

तो जब यह चीज़ पकड़ी नहीं जा सकती, तो कक्षा में हम क्या कर रहे हैं? और जो छात्र हमारे पास आ कर कहते हैं कि वे हिंदी, या उर्दू, या हिंदुस्तानी (या उसका जो भी नाम) सीखना चाहते हैं, तो भाषा को लेकर उनके दिमाग़ में क्या विचार उत्पन्न हुआ होगा कि हिंदी क्या है, यह मुझे मालूम ही नहीं। हिंदी या उर्दू या हिंदुस्तानी को क्या समझकर हमारे पास आते हैं? और कक्षा में हम क्या सिखा रहे हैं, अगर हम उन्हें भाषा नहीं सिखा रहे हैं? मैंने बहुत पहले अनुभव किया कि जो भाषा पढ़ाने वाले होते हैं, वे ज़्यादातर लोगों को आश्वासन दिलाने की कोशिश करते

हैं कि जीवन में भाषा के आधार पर कुछ व्यवस्था है, कोई तर्क है, कुछ स्थायित्व है। यहाँ अमरीका में हमारे छात्रों को यह भी आश्वासन चाहिए कि यह व्यवस्था समझी जा सकेगी कि नहीं। और यहाँ समझने का मतलब है कि उनका जो दृष्टिकोण है उसी के आधार पर। यही कारण है कि भाषा सिखाने वाले व्याकरण ही सिखाते हैं। और क्या करें? व्याकरण उस वस्तु का नाम है जिससे हमें आश्वासन मिलता है कि दुनिया में कुछ नियम हैं, कुछ निरंतरता है। व्याकरण अपने में एक दर्शन है संसार को समझने का। इसलिए प्राचीनकाल में भारत में व्याकरण को एक दर्शन माना ही जाता था। ऐसा भ्रम न हो कि मैं कह रहा हूँ कि मनुष्य की कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे भाषा कहा जा सकता है और जिसके बल संप्रेषण हो सकता है। बिल्कुल ऐसी वस्तु है। परंतु मैं यह तो अवश्य कहना चाहता हूँ कि वास्तव में जो हमारे मुँह से निकलता है, भाषा उस वस्तु तक सीमित नहीं है। भाषा वह चीज़ है जो कि हमारी रगों में दौड़ती है, हमारा चलना फिरना, हमारा उठना-बैठना भी उसपर आधारित है। और घर-घर यहाँ तक कि एक-एक व्यक्ति में यह पृथक् है और रोज़ सूक्ष्म ढंग से बदलती जाती है। तो जब हमारे पास छात्र आकर कहते हैं कि वे हिंदी सीखना चाहते हैं तो मुझे लगता है कि उनकी इतनी ही सहायता कर सकता हूँ कि उन्हें दिखाऊँ कि संसार कितना विशाल है और उसमें हिंदी जैसे नाम को लेकर जिस अमूर्त वस्तु को हम एक भाषा कहते हैं, वह सीखी जानेवाली वस्तु नहीं है। बस, अगर कोई भाषा ग्रहण करना चाहे तो वहाँ जाकर रहना चाहिए, जहाँ वह बोली जाती है। बिल्कुल उसी तरह जैसे बहुत साल पहले सफ़र करते समय जिन सज्जन से मुझे बातचीत करने और सीखने का अवसर मिला था। उनसे निकट आने के लिए, और दोस्ती का हाथ बढ़ाने के लिए, मुझे उन्हीं की भाषा में बोलना पड़ा, चाहे उसे हिंदी कहें, या हिंदुस्तानी, या हिंग्लिश या जो भी उसे कहें।

भारत के संदर्भ में यह तथ्य आसानी से समझ में आता है। उत्तरोत्तर लोग अपने गाँव, शहर, या प्रांत से पूरे देश में नौकरी पाने, घूमने, या शिक्षा पाने के लिये जगह-जगह चलते हैं। उत्तर भारत के विशाल क्षेत्र में जहाँ भी जाएँ, वहाँ लोगों के साथ वहाँ की भाषा या बोली में संप्रेषण करना पड़ता है। और लोग ग्रहण करते हैं, चाहे इच्छा हो या न हो, समाज में रहने के कारण ही। किसी कक्षा में जाकर नहीं सीखते। दक्षिण के लोग उत्तर चले जा रहे हैं, और उत्तर के लोग दक्षिण चले जा रहे हैं। लेकिन यह हिंदी की ही बात तक सीमित नहीं है, बल्कि अंग्रेज़ी की भी बात है, फ़्रांसीसी की भी, जापानी की भी, तमिल की भी, यहाँ तक कि हरेक भाषा की बात है। वास्तव में भाषा सीखी या सिखाई नहीं जाती। इसका एक कारण यह भी है कि हिंदी एक मूर्त वस्तु है ही नहीं। कोई भी भाषा एक मूर्त वस्तु नहीं है, जो कि कक्षा में बैठकर प्राप्त की जा सकती है।

पर क्या इसमें विडंबना या विरोधाभास तो नहीं होगा अगर मैं हिंदी पढ़ानेवाला होते हुए कहूँ कि हिंदी सीखी या सिखाई नहीं जा सकती। बल्कि यह ढोंग तो नहीं होगा? क्लास में जाकर मैं अपने छात्रों को धोखा तो नहीं दे रहा हूँ? दे भी रहा हूँ, और नहीं भी दे रहा हूँ। बात इस पर निर्भर है कि जब हम कक्षा में जाकर भाषा की बात करते हैं तो उससे हम क्या समझते हैं। अधिकतम यह समझकर मेरी कक्षा में लोग आते हैं कि भाषा वह वस्तु है जिसका अलग व्याकरण होता है और जिसकी अलग शब्दावली होती है। परंतु थोड़ी देर बाद वह समझने लगते हैं कि असल में वे मेरी कक्षा में बैठकर क्या कर रहे हैं। वे मुझसे ही बात करना सीख रहे हैं, जिसकी भाषा की परिभाषा अब तो की नहीं जा सकती (उसे मानक हिंदी, या उर्दू, या हिंग्लिश, या ऑस्ट्रेलियाई हिंग्लिश या कुमाऊँनी से प्रभावित हिंदी कहना चाहिए, मुझे मालूम नहीं)। यानी वे एक विशेष बोली सीख रहे हैं, जो कि मेरी अपनी बोली है। अगर वे असल में भारत जाकर वहाँ के लोगों से संपर्क स्थापित करना चाहेंगे, तो वहीं जा कर उन्हीं की बोली/भाषा सीखनी पड़ेगी। इसके अलावा मुझे पूरी आशा है कि वे मेरी कक्षा में यह तथ्य सीखते होंगे कि भारतवर्ष इतना विशाल, विविधता और विभिन्नता से समृद्ध है और दिन-ब-दिन बहुत तीव्रता से देश और समाज बदलता जा रहा है, कि चाहे हम तीन वर्ष की भाषा की कक्षा में जो भी करें, हम उसकी विविधता तथा विभिन्नता के बारे में एक तिल के बराबर सीख पाएँगे। इसलिए, अंत में हम इसपर अधिक ज़ोर देते हैं कि उन्हें अमरीका में कक्षा में बैठकर साहित्य पढ़ने से सब से अधिक लाभ होगा, चाहे वे कैसा भी साहित्य हो। बीसवीं शताब्दी का साहित्य हो, उन्नीसवीं शताब्दी का साहित्य हो, या उससे भी पहले का साहित्य हो, गद्य हो, पद्य हो, 'सस्ता' हो, उच्च कोटि की कृति हो या जैसा भी हो। साहित्य पढ़ने से और अंत में रचने से हमें दिखाई देता है कि अपने संप्रेषण के माध्यम से एक जनसमुदाय का क्या संबंध है, वे लोग गहराई से अपना जीवन, समाज, देश, और काल कैसे समझने और समझाने की चेष्टा करते हैं। इससे आगे अगर कुछ सीखना-समझना हो, तो भारत जाकर वहीं रहना पड़ेगा। ■

गंगानंद झा
बैद्यनाथ-देवघर (झारखण्ड) में जन्म। सीवान (बिहार) के डी.ए.वी स्नातकोत्तर कॉलेज में वनस्पति-शास्त्र के अध्यापन से सेवा-निवृत्त। चार्ल्स डार्विन के क्रम-विकासवाद, जवाहरलाल नेहरू के scientific temper तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर के जीवन-दर्शन के समन्वय के आलोक में जीवन-पथ के प्रति अपने कौतूहल बरकरार है। सम्प्रति - चण्डीगढ़ में निवास।
सम्पर्क : ganganand.jha@gmail.com

बतकही

नर देवता

हिन्दु मत में तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं की बात कही गई है। इसकी हकीकत मेरी चेतना में उभड़ती है जब सोचता हूँ कि बिना संसाधन और समझदारी के मेरा जीवित रहना कैसे मुमकिन हो पाया। मैंने तो अपनों को परेशानी में डाला था। खासकर अपने सेवानिवृत्त निःस्व पिता को, परिवार के सन्तुलन को, दोस्तों के लिए दुविधा की हालत प्रस्तुत कर दी थी। मेरी पूँजी मात्र मेरी साधारण-सी नौकरी थी। दुनियादारी का शऊर न मुझमें था, न मेरी पत्नी में। ऊपर से हम दोनों के बीच सामञ्जस्य की कमी रहा करती थी। आदर्श का कुहासा मेरी समझ पर छाया हुआ था जिसके कारण अपनी हिफाजत करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति बेअसर सी थी।

मैंने बिहार, बंगाल, असम तीन राज्यों के शहरों में काम किया। सेवानिवृत्ति के बाद चंडीगढ़ में बस गया। पहली नौकरी अपने शहर में थी, बाकी सब सर्वथा अपरिचित लोगों और परिवेश के बीच थी। कुल सात संस्थानों में काम किया। पढ़ाई रुक-रुक कर पूरी हुई। आय हमेशा सीमित रही। आर्थिक संचय कभी कुछ भी नहीं हो पाया, नहीं होने का एहसास भी नहीं रहा था। कभीकभार लगता था कि कोई आकस्मिक संकट आ जाए तो मुश्किल हो जाएगी। पर हम कभी मुरझाए नहीं, मुझे नहीं लगता कि हम लोगों का आचरण कभी ऐसा हुआ कि लोग हमें बेचारा कहें। अचरज होता है। तभी बांग्ला साहित्यकार शंकर का एक अवलोकन प्रासंगिक लगता है :

"मेरे पास कहने को एक ही बात है। यह धरती अभी भी प्यार से खाली नहीं हुई है। जीवन के जटिल यात्रा पथ पर बार-बार अनात्मीय व्यक्तियों का प्यार पाकर धन्य हुआ हूँ मैं। मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ उस नर देवता को, जो अनेक व्यक्तियों की देह में उनके अनजानते ही वास करते हैं। नरदेवता! बहुत बड़ी बात है न। देवता शब्द आजकल व्यंग्य हो गया है। लेकिन विश्वास करें, इस मानवतीर्थ में मैंने बार-बार उन्हें खोज निकाला है, पाया है उनका अपार स्नेहप्रश्रय, जिसने मुझे इस दयाहीन, स्नेहहीन पृथ्वी में जीवित रहने और विकसित होने में सहायता की है। सीमाहीन मरुभूमि में ये लोग वटवृक्ष की तरह खड़े रहा करते हैं, मनुष्य के मन में समाज के सम्बन्ध में विश्वास वापस ले आने के लिए, मनुष्य के मनुष्यत्व को जगाने के लिए। मैंने अपना पूरा जीवन स्वर्गलोक के देवताओं के पीछे समय नष्ट न कर स्मरणीय, वरणीय, पूजनीय एवम् प्रियतम लोगों के जीवन से दुर्गम तीर्थयात्रा का पाथेय संग्रह किया है।"

मैंने स्नातकोत्तर की पढ़ाई करने का इरादा छोड़ ही दिया था। पर मेरे अनजानते मेरे शिक्षक प्रोफेसर मुखर्जी ने मेरे लिए ऐसी नौकरी की व्यवस्था कर दी जिसमें साथ-साथ आगे की पढ़ाई करना सम्भव हुआ। वे अनोखे आदमी थे, बहुत कम बोलते थे, उनके अधिकतर छात्रों को उन्हें खड़ुस कहते हुए सुना था। पर मेरा परिचय उन्होंने ही गढ़ा।

हम दाम्पत्य जीवन के प्रारम्भिक अध्याय में सर्वथा अपरिचित उत्तरपूर्व के सिलचर शहर में करीब बीस महीने रहे। वहाँ के लोगों का अयाचित, अकुण्ठ स्नेह मिला।

सहज रूप से कॉलेज और शहर के समाज में स्वीकृति मिल गई थी। कॉलेज के सेक्रेटरी श्री आशुतोष दत्त ने कहा, मेरा छोटा बेटा तुम्हारी उम्र का है, वह भी लेक्चरर है, इसलिए मैं तुमको तुम ही पुकारूँगा। मैं आश्वस्त हो गया। शहर में डॉ. कल्याणी दास चिकित्सक सह अभिभावक हो गई थीं। श्री रमेश देब और सर्वोपरि श्री अनन्त देब के साथ की सान्ध्य गोष्ठियों में नियमित भागीदारी ने मुझे सुरक्षा की सहज आश्वस्ति दे दी थी। संयोग ऐसा था कि मेरे सम्पर्क में जो लोग आए, सब के सब स्नेहशील और सामाजिक चेतना से युक्त थे। कितने ही नाम हैं जिन्होंने सहजता और गर्मजोशी से हमें आश्वस्ति दी। हमारी जटिल जीवन-यात्रा के प्रारम्भिक भाग में हमारे लिए यह विधाता का आशीर्वाद था। इसके बाद की अवधि में भी नरदेवता का आशीष हमें मिलता रहा है। सीवान में डॉ. अच्युत घोष से परिचय हुआ। वे होमियोपैथ थे। उनके बैठकखाने में करीने से सजी हुई किताबों की अलमारियाँ थीं। लगता था जैसे पूजाघर में विग्रह हों। डॉ. घोष सुरुचि सम्पन्न व्यक्ति थे। किताबों से, किताबें पढ़नेवालों से उनको लगाव था। वे किताबों के प्रति आग्रह रखनेवालों का आदर करते थे। उनके संग्रह से उनकी सुरुचि जाहिर होती थी। किताबों को वे विग्रह की तरह ही जतन से रखते थे। मुझे बांग्ला साहित्य की उत्कृष्ट रचनाओं से परिचित होने का अवसर मिला, खासकर मानिक बन्द्योपाध्याय की पुस्तकों ने मेरी जीवन दृष्टि को परिष्कृत और परिभाषित किया। सीवान में डॉ. के.पी. वर्मा, उमेशदत्त शुक्ल, नथुनी बाबू, हाशिम साहब, फैजुल हसन, भोला बाबू, महेन्द्र बाबू, लाल बाबू... नामों का एक अनगिनत सिलसिला है। ये सहकर्मी थे, स्कूल शिक्षक थे, वकील थे, व्यापारी थे, राजनीतिक कार्यकर्ता थे। इनसे मेरा समाज बना हुआ था, एक सुरक्षा चक्र और स्वीकृति की सम्माननीयता से सज्जित हुआ था मैं।

स्वजनों से मिलती रहनेवाली चोटों को सहने की शक्ति इन अनात्मीयों से मिलती रही है। मेरे बचपन के दोस्त, मेरे स्वजनों के दबाव के बावजूद मेरे साथ खड़े रहे थे। वे सब लोक साहित्य के पात्रों की तरह साधारण लोग थे। सेवानिवृत्ति के बाद इन लोगों के बीच ही रहने का मन बनाया था। पर मुमकिन नहीं हो पाया।

एक बार फिर अपरिचित परिवेश में अनुकूलित होने की मशक्कत करने की जरूरत पड़ गई। चण्डीगढ़ में अपने चिकित्सक पुत्र के साथ। खासियत यह थी कि यह जीवन का सबसे अधिक कठिन तथा अन्तिम अध्याय था। हमें अपने परिचय के बजाय अपनी सन्तान के परिचय से जीना था। नर देवता पर विश्वास ही मेरा सम्बल था।

यहाँ संयोग से पंजाब विश्वविद्यालय के डॉ. विजय कुमार सिंह और रैनबैक्सी के श्री बलदेव पांडे से परिचय हुआ। मुलाकातें होती रहीं, मैं ही चक्कर लगाता इन दोनों के ठिकानों पर। विजय बाबू से कम्प्यूटर तथा इंटरनेट के बारे में बातें होतीं, मेरी जिज्ञासा को सम्मान मिलता रहता और मेरा आनन्द बढ़ता जाता। विद्यार्थी की तरह महसूस करता अपने आपको। विजय बाबू ने उत्तरोत्तर उत्साह और सम्मान के साथ मुझे प्रशिक्षित होने में प्रोत्साहित किया।

मैं विजय बाबू, के प्रश्रय से कम्प्यूटर, इंटररनेट की आवश्यक जानकारियाँ अर्जित कर पाया। और जीवनसन्ध्या की चुनौतियों से रुबरु होने के लिए जरूरी हथियार मिल गया। बलदेव के जुनून, स्नेह, सम्मान और सीखते रहने की प्रवृत्ति से मुझे आश्वासन मिला कि मैं प्रासंगिक हूँ। मैं स्नेह और सम्मान अर्जित कर सकता हूँ। बलदेव के जरिए राजशेखर मेरे वृत्त में शामिल हुआ। इन दोनों की जिजीविषा, अपने को सशक्त करते रहने और अपनों को सहारा देने के सहज संघर्ष ने मुझे ऊर्जा दी। बलदेव और राजशेखर मुझे एहसास दिलाते रहे कि मैं उन लोगों के लिए रोशनी का साधन हूँ। यह एहसास कितनी सार्थकता और शक्ति देता है, कहना नहीं होगा। राजशेखर ने कई एक बहुत ही सुन्दर पुस्तकें मुझे उपहार में ही नहीं दीं, पढ़ने को भी प्रेरित किया। इन पुस्तकों ने जीवन के विरोधाभासों के साथ सहज होने की समझ दी।

कम्प्यूटर और इण्टरनेट की सुलभता ने मुझे प्रासंगिकता दी। आँखों से परे का जगत संसार प्रत्यक्ष हो उठा। ऐसे लोगों से परिचय हुआ जिनसे मिलने का कोई आश्वासन नहीं था। उनसे स्वीकृति और सम्मान मिला। मैंने अपने आलेख प्रकाशन हेतु पत्रिकाओं में भेजे। सम्पादकों और पाठकों की स्वीकृति मिली। अपने लेखन को स्वीकृति का एहसास हुआ। इस उपलब्धि से वंचित होने की कचोट दूर हुई। इसी सिलसिले में "गर्भनाल पत्रिका" के माध्यम से श्री आत्माराम शर्मा से परिचय हुआ। "देश पत्रिका" के सम्पादक श्री सागरमय घोष की कहानी याद आई। वे अपरिचित लेखकों को प्रकाश में लाने में अकृपण थे ।

तैंतीस करोड़ नामों के बीच से इतने ही का उल्लेख हो पाया है। सचमुच तैंतीस करोड़ होंगे वे लोग। उतने का नाम एक साथ ही अलग-अलग कह पाना मुमकिन नहीं हो पा रहा है। पर उनमें से किसी के प्रति मेरी कृतज्ञता का अन्त नहीं है। जब भी उनमें से किसी का स्मरण होता है तो वह अनन्य लगते हैं। कुल मिलाकर यह स्वीकृति, कुबूलनामा है कि मुझे इन नरदेवताओं ने ही गढ़ा है। मेरे अन्दर जो कुछ अच्छा है वह इनकी और मेरे द्वारा पढ़ी गई पुस्तकों की बदौलत है। नरदेवताओं ने ही बिना किसी प्रस्तुति के, बिना किसी संचय के, बिना सुरक्षा कवच के जीवन की विस्मयकारी, असीम सम्भावनाओं को अर्घ्य देते रहने का सुयोग मुझे दिया। ■

शैल अग्रवाल

21 जनवरी 1947, को बनारस में जन्म। संस्कृत, अंग्रेजी व चित्रकला में स्नातक तथा अंग्रेजी साहित्य में एमए। भरत नाट्यम व सितार में प्रशिक्षण। कविता संग्रह- समिधा, कहानी संग्रह- ध्रुवतारा तथा बसेरा, समकालीन लेख संग्रह- *लंदन पाती* प्रकाशित। रचनाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित तथा रेडियो और टेलीविजन पर प्रसारित। लक्ष्मीमल सिंघवी सम्मान, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान का "विदेश हिन्दी प्रचार-प्रसार सम्मान", हिन्दी समिति, लंदन का "हिन्दी सेवी सम्मान", प्रवासी मीडिया सम्मान, कमलेश्वर कथा सम्मान तथा *साहित्य सारथी* सम्मान से पुरस्कृत। सम्प्रति - वेस्ट मिडलैंड, यूके में निवास। संपर्क सूत्र : shailagrawal@hotmail.com

विचार

भय क्यों?

आसपास बहती सामाजिक और राजनैतिक आँधी और लगातार की ये मौत की खबरें मन को विचलित कर रही थीं या फिर व्यक्तिगत कारण था या उदास तालेबन्दी ही भय पर लिखने की मुख्य वजह बनी, नहीं जानती।

वजह जो भी हो, भय को कब कोई नष्ट कर पाया है। हाँ इसे दबा और छुपा अवश्य दिया जाता है। भय का अनुभव तो बचपन से ही हो जाता है हमें, जब सब कुछ छुपा लेने वाला अंधेरा डराने लगता है। अपरिचित और अनजाने डराने लगते हैं।

पहले-पहले मानव का आत्म संरक्षण के लिए हाथ में पत्थर उठा लेने से लेकर, उसे नुकीला करके औजार के रूप में प्रयोग करने तक - विकास के उस ऐतिहासिक पल से लेकर आज तक, एक से एक अजीबोगरीब मिसाइल और हथियार अविष्कृत किए गए हैं इसके निर्मूलन के लिए। साथ में नए-नए ग्रह और उपग्रहों की तलाश भी अनवरत् जारी रही है, ताकि इस पृथ्वी को पूर्णतः नष्ट भी कर दें, तो भी अन्यत्र कहीं और जाकर रहा जा सके। आधिपत्य और अतिक्रमण के ये नए-नए तरीके, मानव के आत्म-सुरक्षा के प्रति अपराजेय भय को ही तो प्रतिलक्षित करते हैं। सृजन की इच्छा हो या विनाश का ताण्डव, प्रेम के साथ-साथ भय का भी उतना ही हाथ है जीवन की सतत् प्रक्रिया और हर प्रणाली में।

पर मां का भय जहाँ शिशु को पूर्ण सुरक्षा देता है शत्रु का विध्वंस और विनाश कारक है। भय भी एक ऊर्जा है। हम सभी जानते हैं कि कोई भी ऊर्जा नष्ट नहीं होती, मात्र रूप बदलती है। मानव इतिहास के आदिकाल से ही इस ऊर्जा का भी सकारात्मक व नकारात्मक, दोनों ही रूप में उपयोग होता आया हैं। इसी के बूते पर अनगिनत नीड़ों के साथ ही कई सभ्यताएं बनी भी हैं और बिगाड़ी भी गई हैं। एक तरफ मानव चंद्रमा और मंगल ग्रह तक जा पहुँचा है, वहाँ बसने और फसल उपजाने के उपक्रम कर रहा है, वहीं पृथ्वी पर पूरी की पूरी बसी बसाई बिरादरी मिनटों में साफ कर दी गई है, क्योंकि कभी किसी धर्म विशेष से खतरा महसूस हुआ है तो कहीं किसी विचार विशेष से।

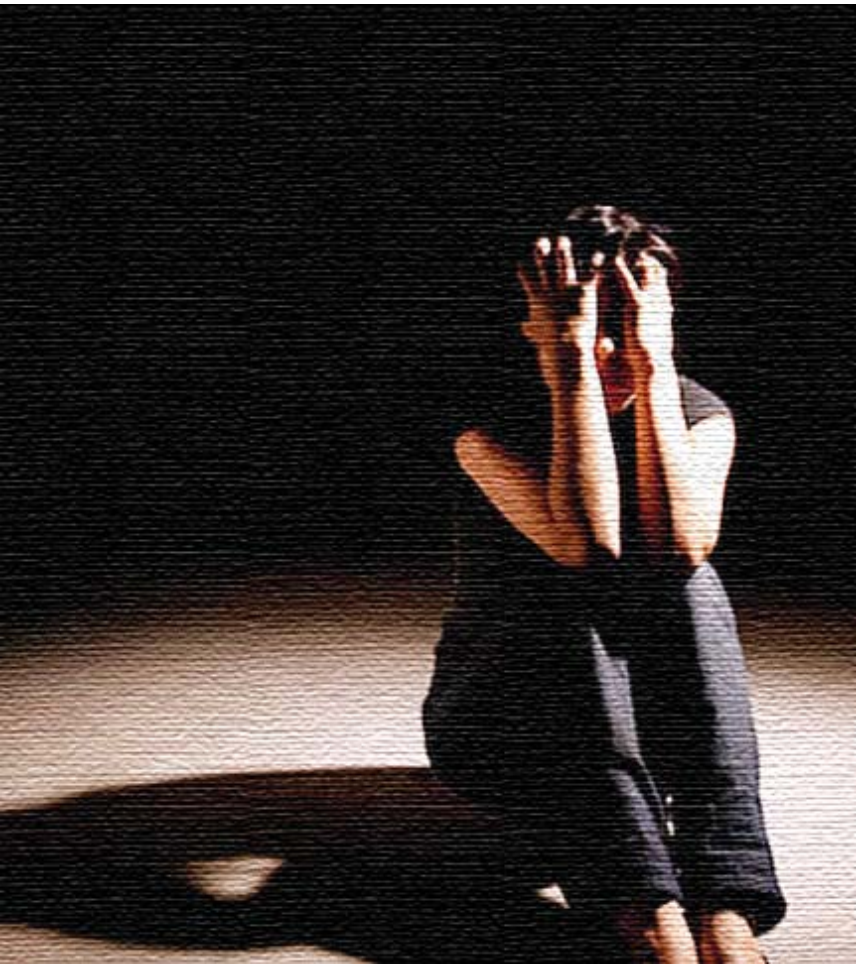

मानव की यह निरंतर अस्मिता की तलाश और विकास की प्यास जहाँ नित नए कीर्तिमान स्थापित कर रही है, आसान से आसान और अति आरामदेह जीवनशैली ने उसे बेहद स्वार्थी और असहिष्णु भी बना दिया है। इस हद तक क्रुद्ध और खतरनाक वह पहले कभी नजर नहीं आया था। संभव है कि संचार के इस पारदर्शी युग में त्वरित फैलती खबरें इसका कारण हों, जिसके तहत प्रायः सफेद-काला तुरंत ही सभी की आँखों के आगे आ जाता है। परन्तु अब इस पारदर्शिता को हम किस तरह से उपयोग में लाते हैं यह हमारे

अपने विवेक की भी तो एक बड़ी परीक्षा ही नहीं, कड़ी चुनौती भी है। याद रखना होगा कि जीवन सिर्फ जीना नहीं, जीतना और आधिपत्य भी नहीं। समय रहते रोक-बचाव जरूरी है, क्योंकि 'का बरखा जब कृषि सुखानी।'

माना कि सभ्यता के हर युग के अपने-अपने भय रहे हैं और पूर्णतः भयहीन समाज तो आदर्श रामराज्य में भी नहीं था। राक्षसों ने खूब उपद्रव किए थे तब भी। पर आज के इस युग में तो मानो चारों तरफ अर्थहीन भय का ही साम्राज्य पसर चुका है, क्योंकि सबके मन को काले सायों ने घेर रखा है। जिसे मौका मिलता है वही स्वार्थ और भ्रष्टाचार का मुकुट लगाए खुद को सिंहासनासीन कर लेता है। सहिष्णुता और करुणा, सेवाभाव आदि पिछड़ों और कमजोरों के लिए जाने जाते हैं। आत्ममुग्ध ही नहीं, अंधे हो चुके हैं अधिकांश। फलतः दुर्घटनाओं और अपराधों का क्रूर युग बन चुका है यह। अब हमें घृणित-कुत्सित व्यवहार चौंकाते नहीं। कुंठित संवेदनाओं के साथ हम एक-से-एक बेहूदी खबरें पढ़ते हैं और अखबार चुपचाप किनारे रख देते हैं। घर से निकले तो शाम को सुरक्षित लौटेंगे या नहीं, भरोसा नहीं। कोई भी सुरक्षित नहीं, फिर भी सब चुप हैं। क्योंकि भय कायर और अपंगु भी तो बनाता है। परन्तु पूरा समाज ही ऐसा हो जाए तो स्थिति निश्चय ही चिंतनीय और विचारणीय है।

पहले लोगों के हाथों से रुपए-पैसे और जेवर छीन लिए जाते थे पर अब आदमी छिन जाते हैं, एक दो नहीं, पूरे के पूरे बस और जहाज भर-भर के। हजारों की संख्या में सीमा और अन्य विवादों में गाजर-मूली की तरह काट दिए जाते हैं या उड़ा दिए जाते हैं और कोई इसे रोकने में सफल नहीं। मनमानी दानवता जारी है चारों तरफ।

समझ में नहीं आता कि यह कैसी सभ्यता और संस्कृति की तरफ उन्मुख हैं हम और क्या हासिल करने की कोशिश की जा रही है इन कुत्सित तरीकों से? ये व्यक्तिगत बहस-वार्ता या बड़े-बड़े राजनैतिक और धार्मिक सम्मेलन, ये किताबें, आख्यान और खुली खबरें, कौन जाने किस दिशा में समाज और सभ्यता को ढकेलें! हदें भी तो अब समझ और नैतिकता पर नहीं, ज़िद और ताकत के हथियारों से उकेरी और तय की जाने लगी हैं, चाहे जीवन हो, समुदाय हो या फिर राष्ट्र विशेष ही क्यों नहीं! अधिकांश समस्याओं का हल बिना सोचे-समझे अपराधी प्रवृत्तियों और अनैतिक तरीकों से छीन-झपटकर ही निपटाया जाता है। आँख के बदले आँख ही नहीं सिर तक उड़ा दिए जाते हैं अब तो। जिधर देखो समाज और परंपरागत ताने-बाने, सब उलझे-

सकारात्मक रूप से सोचें तो भय प्रकृति प्रदत्त एक सुरक्षा कवच भी है, जिससे हम अहितकारी परिस्थिति और व्यक्ति व वस्तुओं से दूर रहना सीखते हैं।

उलझे नजर आने लगे हैं। स्वार्थ सिद्धि के लिए निर्दोषों को बन्धक बनाया जा सकता है और सहायता का सामान पहुंचाने वाले स्वयंसेवक को ही बलि का बकरा! मानो धर्म ही नहीं मानवता की भी परिभाषा बदल दी गई हो और लिपि हर जगह एक ही नजर आती है- स्वार्थ-सिद्धि व अंधा स्व-प्रचार।

दूसरे के दुख और आंसू कैसे दिखें इस अंधे युग में, गूंगा बहरा समाज तो वैसे ही कुछ कहने-सुनने में असमर्थ और कायर है! हत्या, अपहरण, बलात्कार, लूटपाट और भांति-भांति के निर्मम अत्याचार और खबरों ने मानो मानवीय संवेदना तक को कुंठित कर दिया है। माना कि आज विश्व की जनसंख्या बहुत बढ़ चुकी है पर आदमी और जानवरों का फर्क इस हद तक तो नहीं ही समाप्त होना चाहिए कि आदमी या जानवर कौन हलाल हो रहा है, इससे फर्क ही न पड़े हमें।

सकारात्मक रूप से सोचें तो भय प्रकृति प्रदत्त एक सुरक्षा कवच भी है, जिससे हम अहितकारी परिस्थिति और व्यक्ति व वस्तुओं से दूर रहना सीखते हैं। आक्रमण या पलायन करते हैं। कहते हैं भय भी शक्ति देता है। आदमी सबसे तेज भयभीत होकर ही भागता है। तुलसीदास ने तो यहाँ तक कह दिया कि 'भय बिनु प्रीत नाहिं जग माहि।' और प्रीत के बिना सृजन कहाँ- सृष्टि नहीं। यानी कि प्रेम जैसे उद्दात्त भाव के केन्द्र में भी भय ही है- भय स्वीकृति या अवज्ञा का, पाने या खोने का।

प्रायः इच्छाओं की प्रबलता ही भय को जन्म देती हैं। जब हम किसी को बहुत प्यार करते हैं, तभी उसके खोने

आज मनोविज्ञान में भांति-भांति के प्रयोग और प्रक्रिया व सुझाव हैं – भय के निदान और निवारण के लिए। कुछ औषधियाँ भी हैं जो रासायनिक परिवर्तन से मन और मस्तिष्क को शांत और तनावमुक्त कर देती हैं।

या बिछुड़ने का भय भी सताता है। हमें समझना होगा कि भय हमेशा हमारी किसी अदम्य इच्छा के आसपास ही पनपता है। जिन्दगी में सफलता के साथ असफलता का भय है- प्रेम, ईर्ष्या और क्रोध आदि भावों से उत्पन्न भय हैं और अंततः मृत्यु का भय है। बलवती इच्छाओं का बाइ-प्रोडक्ट भी कह सकते हैं हम भय को। असुरक्षित आदमी ही सर्वाधिक भयभीत रहता है। भय कई प्रकार के हैं कुछ काल्पनिक जिनका जन्म चिंता और कुंठाओं से होता है तो कुछ स्थूल, जो प्रायः परिस्थितिजन्य होते हैं। जैसे मृत्यु से डरना या किसी प्रिय के कुशल क्षेम को लेकर चिंतित होना। यह स्वाभाविक है, परन्तु उसे आँखों से ही ओझल न होने देना कि कहीं अनिष्ट न हो जाए, यह काल्पनिक भय की अतिशयोक्ति मानी जाएगी।

आंसुओं का बेवजह आ जाना कमजोरी नहीं और अपनों की सुरक्षा के लिए सजग रहना भी। कहानी-कविता पढ़ते-सुनते या दूसरों की तकलीफ में देखकर रोनेवाला भी प्रेमवश विषम या कठिन और दुखदायी परिस्थितियों में एक सजग योद्धा-सा निर्लिप्त लड़ सकता है। भय की सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रतिक्रियाएं होती हैं व दोनों तरह से इस्तेमाल करते आए हैं हम इसे ।

भय में अनिष्ट और क्षरण या खोने और विछोह का भाव मुख्य है और यही वजह है कि प्रतिक्रिया स्वरूप या तो व्यक्ति सुरक्षा करना चाहता है या फिर व्यक्ति, वस्तु और परिस्थिति को जीतना या वश में करना और अंत में यदि यह संभव न हो तो कारक या कारण को ही ध्वस्त या नष्ट करना। बड़ी से बड़ी लड़ाई, भांति-भांति के परमाणु बम और शस्त्रों के केन्द्र में मूलभाव भय ही रहा है। भय और अवशता या तो पंगु करती है या फिर आक्रामक बनाती है।

प्रकृति ने अगर हमारे अंदर भय के भाव भरे हैं तो साहस व उम्मीद भी, जो इसे नकारते हैं। भय से जीतना सिखाते हैं ये हमें। इन्हीं के सहारे मानव अपने कद से कई गुना बड़े असाध्य कार्य कर ले जाता है। वीर और नायक कहलाता है। यह भय की सकारात्मक ऊर्जा है। पर कुछ भय ऐसे भी हैं जिन्हें अनिष्ट से बचने के लिए और पीढ़ियों के अनुभव और ज्ञान के आधार पर शैशवकाल से ही बच्चे के मानस में ढाला जाता है जैसे कि आग और नदी तालाबों आदि से डरना या फिर थोड़े और बड़े होने पर सामाजिक कायदे कानून आदि का विवेक और भय ताकि अहितकारी और अप्रिय से बचा जा सके।

फिर भी दुस्साहस और अविवेक के रहते दुर्घटनाएँ होती हैं और अपराध भी। यह भय की नकारात्मक ऊर्जा है जो कुंठा और भांति-भांति की ग्रंथियाँ और फोबिया को जन्म देती हैं। भय में अनभिज्ञता का भी बड़ा हाथ है। प्रायः हम अपरिचित से डरते हैं क्योंकि क्या है और क्या मिलेगा- इसका पता नहीं।

आज मनोविज्ञान में भांति-भांति के प्रयोग और प्रक्रिया व सुझाव हैं - भय के निदान और निवारण के लिए। कुछ औषधियाँ भी हैं जो रासायनिक परिवर्तन से मन और मस्तिष्क को शांत और तनावमुक्त कर देती हैं। परन्तु विज्ञान और तकनीकी की प्रगति के बावजूद आज का प्रतिस्पर्धी तनावपूर्ण वातावरण नित नई हीनता और असुरक्षा से उत्पन्न हिंसा और अपराधों को ही जन्म दे रहा है, साथ में उनसे उत्पन्न भय भी। लूटमार और हिंसा की खबरें, अन्याय और अत्याचार की खबरें अब दैनिक अखबारों की मुख्य खबर बनती जा रही हैं। समझें तो, इन भयावह गुत्थियों के केंन्द्र में भय ही नजर आता है जो कर रहे हैं, उनका भी और जो भुगत रहे हैं उनका भी। समाज, कानून, आधिपत्य आदि की इस लगातार चलती लड़ाई के बीच कहीं-न-कहीं मन का परिवर्तन भी उतना ही आवश्यक है।

सभ्य समाज की आधुनिक और विकसित व्यवस्था में भी सदाशयता के साथ विवेक और संतुलन, आज भी समर्थ और उन्मूलक औजार हैं इसके। हर जागरूक नागरिक अपनी-अपनी तरह से जिम्मेदारी निभा सकता है। अर्थहीन भय से उत्पन्न हिंसक समाज का निर्मूलन किया जा सकता है, विक्षिप्त और भयभीतों से डरकर नहीं, उन्हें जानने और समझने की कोशिश के साथ विवेकपूर्ण रास्ता ढूंढकर, फिर चाहे वह कोई आतंकी हो या भयानक तबाही मचाते एक वायरस के काले साए।■

मनीष कुमार गुप्ता
1977 में बैतूल, मध्यप्रदेश में जन्म। बरकतउल्ला विश्वविद्यालय से कम्प्यूटर विज्ञान में इंजीनियरिंग स्नातक और भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, कानपुर से स्नातकोत्तर। हिन्दी साहित्य में विशेष रुचि। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। अनेक कवि सम्मेलनों-गोष्ठियों में भागीदारी। सम्प्रति - माइक्रोसॉफ्ट में कम्प्यूटर अभियंता तथा सिएटल, अमेरिका में निवास। सम्पर्क : manishkg@outlook.com

मुखौटे उतार फेंको!

असुरक्षित महसूस करने पर किसी को धमकाना, "जानता है मेरा बाप कौन है?" का मुखौटा। अगर लगता है कि हमें कोई प्यार नहीं करता तो अक्सर गुस्से के मुखौटे के पीछे शरण लेते हैं। कर्ज़ में डूबे लोग कभी-कभी महंगी लाइफ़ स्टाइल के दिखावे के मुखौटे में फंस जाते हैं।

हमारे जीवन का अभिन्न अंग हैं मुखौटे। मुखौटों का संसार के सांस्कृतिक इतिहास में अहम योगदान है। कई तरह के मुखौटे मानव जाति ने समय-समय पर विभिन्न तरह के कारणों के लिए ईजाद किए और उनको धारण किया।

हेलोवीन के मुखौटे हों या कथकली नृत्य के, माइम स्वांग के हों या विभिन्न जनजाति के रीति रिवाजों के, सुपर हीरो के मुखौटे हों या चुनावी रैलियों में नेताओं के चेहरे के मुखौटे। मुखौटों का संसार विशाल और विविध है।

कोरोनाकाल ने मुखौटों का एक नया रूप "फ़ेस मास्क" के माध्यम से हमारे सामने लाया है। यानि मुखौटे अदृश्य शक्तियों से हमारी रक्षा करने का काम भी करते हैं।

लेकिन कुछ अलग तरह के मुखौटे भी हैं, जिनके पीछे हम अक्सर छिप जाते हैं।

अपनी असलियत छुपाने वाले मुखौटे। मसलन, झूठी मुस्कान का मुखौटा या किसी की अन्त्येष्टि में शरीक होने पर काले चश्मे लगाने का मुखौटा।

फिर कुछ भावनात्मक मुखौटों के पीछे हम डरकर छिप जाया करते हैं। जैसे असुरक्षित महसूस करने पर किसी को धमकाना, "जानता है मेरा बाप कौन है? " का मुखौटा। अगर हमें लगता है कि हमें कोई प्यार नहीं करता तो हम अक्सर गुस्से के मुखौटे के पीछे शरण लेते हैं। कर्ज़ में डूबे लोग कभी-कभी महंगी लाइफ़ स्टाइल के दिखावे के मुखौटे में फंस जाते हैं। कभी नौकरी में या वैवाहिक सम्बन्धों में "सब कुछ ठीक चल रहा है" के मुखौटे में अटककर समस्याओं को नज़रअंदाज़ कर देते हैं।

कई तरह के सामाजिक मुखौटे हैं। एक किशोर बालक जिसे बाईक की जगह सिलाई बुनाई का शौक़ है, उसे अपनी असलियत को दबाकर बाकी आसपास के दोस्तों जैसा मुखौटा लगाना पड़ता है। एक दो बच्चों की माँ को एक विशेष तरह का पहनावा और बातचीत का लहजा रखना पड़ता है। यहाँ तक कि एक

अपने व्यक्तिगत रूप से अलग लगातार विचार और व्यवहार करना बहुत बेचैनी, थकन और कष्ट पैदा करता है। इस सब में फँसकर कभी-कभी हम अपने अनूठे रूप को इतना दूर भी कर देते हैं कि उसे खोने का ख़तरा भी बढ़ जाता है।

शिक्षक को हर वक़्त बौद्धिकता का मुखौटा पहनना पड़ता है।

आप भी सोचिए आप किस तरह के मुखौटे में प्रायः पनाह लेते हैं?

इसी तरह के डर और उनको छुपाने वाले मुखौटे एक मनोवैज्ञानिक रोग जिसे "इंपोस्टोर सिंड्रोम" कहा जाता है, को जन्म देते हैं। इस सिंड्रोम के पीड़ित अपनी असलियत को छद्म समझते हैं। उन्हें लगता है कि वो जहां हैं उसके लिए बने नहीं हैं और ज़माना उन्हे किसी मुखौटे से जानता है जो नकली है।

मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि इंसान का सबसे बड़ा डर यह है कि कहीं हमारा असल स्वरूप उजागर हो गया तो लोग इसे बिलकुल मामूली क़रार देकर दुत्कार देंगे या फिर आपको बाकियों से इतना अलग समझा जाएगा कि आप अकेले पड़ जाएंगे। लेकिन आपका असल रूप ही आपका सर्वश्रेष्ठ और विशिष्ट रूप है। ऑस्कर वाइल्ड ने कहा है , "ख़ुद जैसे बनो, बाकियों जैसे पहले से मौजूद हैं"।

अपने मुखौटों को हटाने के तीन व्यवाहरिक कारण हो सकते हैं। पहला ये कि इससे आपको अपने पूरे सामर्थ्य से जीने में मदद मिलती है। आपको अपनी विशिष्ठ बातों को अपने व्यवहार में और जो भी आप करते हैं उसमें दर्शाना चाहिए। दुनिया में आपके जैसी दक्षता, कौशल वाले बहुतेरे लोग हैं, शायद आपसे अच्छे भी बहुत सारे लोग हैं। लेकिन आप अकेले ही हैं जो अपने व्यक्तित्व और सृजनात्मकता को अपने काम और व्यवहार में ला सकते हैं। यही बात आपको औरों से अलग करती है। अपने आपको दूसरों जैसा ढालने के मुखौटे में छिपे हम अपने अनूठे सामर्थ्य को पूर्णतः साध नहीं पाते।

दूसरा, अपने आपको अनेकों मुखौटे में छिपाए हम अक्सर थक जाते हैं। अपने व्यक्तिगत रूप से अलग लगातार विचार और व्यवहार करना बहुत बेचैनी, थकन और कष्ट पैदा करता है। इस सब में फँसकर कभी-कभी हम अपने अनूठे रूप को इतना दूर भी कर देते हैं कि उसे खोने का ख़तरा भी बढ़ जाता है।

तीसरा और बेहद ज़रूरी कारण है रिश्ते और उनका अपनापन। अगर हम मुखौटे में अपने किसी हिस्से को छुपाएंगे तो अपने आपको पूरी तरह अपने रिश्तों और सम्बन्धों में शरीक नहीं करेंगे। इससे रिश्तों में खोखलापन और दरारें पड़ने के अवसर पैदा हो जाये हैं। अगर आप किसी को एक टूटा गुलदान चिपकाकर जोड़ने को कहें और एक दो टुकड़े छुपा लें तो उसे जोड़ना असंभव है, लेकिन अगर सारे टुकड़े खोलकर सामने रख दिये जाएँ तो पूरी तरह जुड़ जाने की सम्भावनाएँ कितनी बढ़ जाती हैं।

इन मुखौटों के साथ हम जन्म नहीं लेते, बल्कि जीवन की नदी में अपनी नैया खेते-खेते डर, शंकाओं, संबंध जोड़ने और न जाने किन-किन कारणों से हम इनके आदी होते जाते हैं। जरूरतें ख्वाहिशें बन जाती हैं। बहुत से मुखौटों की कोई आवश्यकता नहीं है, लेकिन हम इन्हें फेंकने से डरते हैं या कतरातें हैं ।

आइये अपने आपके निराले व्यक्तित्व को इन पर्दों से निकालें और अपने अद्वितीय स्व को ज़ाहिर होने दें और फेंक दे ये अनावश्यक मुखौटे।

प्रो. शकुन्तला बहादुर

अनंत चतुर्दशी को लखनऊ में जन्म। एम.ए. (संस्कृत) में सर्वाधिक अंकों का पदक हासिल किया। जर्मन एकेडेमिक फ़ेलोशिप पर शोधकार्य। ट्यूबिंगेन विश्वविद्यालय में संस्कृत एवं हिन्दी का अध्यापन। महिला महाविद्यालय लखनऊ में संस्कृत प्रवक्ता। विभागाध्यक्ष एवं प्रधानाचार्या के पदों पर 36 वर्षों तक कार्य करते हुए सेवानिवृत्त। अनेक साहित्यिक-गोष्ठियों में भाग लिया। प्रकाशित कृतियाँ : "मृगतृष्णा' एवं "बिखरी पंखुरियाँ' काव्य संग्रह, "विविधा' ललित निबन्ध-संग्रह, "सुधियों की लहरें' श्रद्धांजलि संकलन "आँचल की छाँव में", लेख एवं संस्मरण प्रकाशित। सम्प्रति - कैलिफ़ोर्निया, अमेरिका में निवास। सम्पर्क : shakunbahadur@yahoo.com

स्मरण

भारतीय-संस्कृति को समर्पित जर्मन संस्कृतज्ञ

आचार्य हेल्मूट फ़ॉन ग्लासेनप्प

उनका ये अध्ययन, लेखन और अनुसंधान विशेष रूप से मध्यकालीन भारतीय दर्शन, बुद्ध की मूल शिक्षाओं, कालान्तर में हुए परिवर्तन, प्राचीन और अर्वाचीन तत्वों के तुलनात्मक रूप को स्पष्ट करने का सफल प्रयत्न था।

उस दिन प्रातःकाल से बादल घिरे हुए थे। हल्की-हल्की बूँदें भी पड़ रही थीं। ट्यूबिंगेन विश्वविद्यालय (पश्चिमी जर्मनी) के सामने खड़ी 'बस' में बैठकर सभी छात्र-छात्राएँ और प्रवक्ता-गण चल दिये। सभी शान्त और उदास थे। बीच-बीच में जो शब्द कानों में पड़ रहे थे, उनमें प्रो. ग्लासेनप्प ही चर्चा का विषय थे। धीरे-धीरे हम पहाड़ी पर पहुँचे, जहाँ हम सभी दिवंगत प्रो. ग्लासेनप्प के अन्तिम दर्शन करके, अपनी श्रद्धांजलि देने और अन्तिम संस्कार में सम्मिलित होने गए थे। यहाँ एक ऊँचे स्थान पर लकड़ी के बॉक्स में उनका पार्थिव शरीर रखा हुआ था, जो फूलों से ढँका हुआ था। विभिन्न संस्थाओं, प्रतिष्ठित व्यक्तियों, मित्रों तथा परिचितों के द्वारा अर्पित किये गए फूलों का ढेर-सा लगा था। धूपबत्ती की पवित्र गंध वातावरण में व्याप्त थी। कक्ष में दोनों ओर पड़ी कुर्सियों पर हम सब बैठ गए। विश्वविद्यालय के कुलपति, प्रस्तोता, कला-संकाय के अध्यक्ष और मेरे "भारतीय संस्कृति और साहित्य तथा तुलनात्मक धर्मशास्त्र" विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष प्रो. पॉल थीमे, अपने-अपने पदोचित वेश में विराजमान थे।

ये घटना 1963 की है। जब मैं जर्मन एकेडेमिक एक्सचेंज सर्विस की फ़ेलोशिप पर वहाँ प्रो. थीमे के मार्गदर्शन में अपना शोध-कार्य कर रही थी और सप्ताह में दो दिन संस्कृत एवं हिन्दी का शिक्षण भी कर रही थी।

प्रो. ग्लासेनप्प का जन्म 8 सितम्बर 1891 को जर्मनी की राजधानी बर्लिन नगर में हुआ था। वे आजीवन ब्रह्मचारी रहे और प्रारंभ से मृत्यु पर्यन्त अध्ययन-अध्यापन के कार्य में समर्पित भाव से रमे रहे। सन् 1910 से 1914 तक उन्होंने ट्यूबिंगेन, म्यूनिक, बर्लिन और बॉन विश्वविद्यालयों में भारतीय धर्म और दर्शन का अध्ययन किया। सन् 1914 में डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। आपके शोध-प्रबंध का विषय था "जैन दर्शन में कर्मसिद्धान्त/कर्म संबंधी उपदेश"। इसके चौदह वर्ष पश्चात् सन् 1942 में, बम्बई में इस पुस्तक का अंग्रेज़ी का अनुवाद छपा। इसी से इस ग्रंथ के महत्त्व और उपादेयता का अनुमान लगाया जा सकता है। छात्र रूप में ही नहीं, अध्यापक की दृष्टि से भी वे अत्यन्त सफल रहे। बॉन, बर्लिन और कॉयनिग्सबर्ग आदि विश्वविद्यालयों में वह विशिष्ट प्रोफ़ेसर रहे। सन् 1946 से 1951 तक वह ट्यूबिंगेन में ही प्राच्यविद्या विभाग के अध्यक्ष

रहे। अवकाश प्राप्त करने के बाद भी वह विश्वविद्यालय में सम्मानित आचार्य के रूप में तुलनात्मक धर्मशास्त्र और भारतीय दर्शन आदि विषयों पर विद्यार्थियों का मार्गदर्शन करते रहे। अपने जीवनकाल में उन्हें विश्व के विभिन्न देशों से निमन्त्रण मिले थे।

अत्यन्त सम्मानित अतिथि के रूप में उन्होंने संयुक्तराष्ट्र, दक्षिणी अमेरिका, पूर्वी द्वीप समूह, अनेक योरोपीय देशों और भारत की यात्राएँ कीं। विभिन्न विश्वविद्यालयों में उनके भाषणों का आयोजन किया गया। उनके शोध और विद्वत्तापूर्ण लेखों का फ्रेंच, इंग्लिश और भारतीय भाषाओं में भी अनुवाद हुआ। जर्मनी में भारतीय-संस्कृति, साहित्य एवं धर्म, दर्शन के क्षेत्र में दो भी शोधकार्य हुए, उनके प्रमुख प्रतिनिधियों में प्रो. ग्लासेनप्प थे। सन् 1953 में भारत सरकार ने इनके कार्यों से प्रभावित होकर इन्हें उपहार रूप में एक "विशाल शब्द कोष" समर्पित किया था।

महात्मा बुद्ध के ढाई हज़ार वर्ष पूरे होने पर सन् 1956 में भारत में जो विराट बुद्ध जयन्ती समारोह मनाया गया था उसमें भी भारत सरकार की ओर से प्रो. ग्लासेनप्प भी आमंत्रित किये गए थे। उनकी 70वीं वर्षगाँठ पर पश्चिमी जर्मनी के प्रधानमंत्री की ओर से उनकी साहित्य-सेवाओं के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिये उनको उच्च कांस पदक किया गया था।

शास्त्रीय क्षेत्र में प्रोफ़ेसर ग्लासेनप्प की इस प्रसिद्धि का आधार थे उनके बहुसंख्यक विराट प्रकाशन, जिनके अन्त में उनके भाषाविज्ञान संबंधी शोध कार्य के साथ ही ऐतिहासिक अनुसंधान कार्य छिपे हुए थे। भारत में उनकी विशेष रुचि थी। उनका ये अध्ययन, लेखन और अनुसंधान विशेष रूप से मध्यकालीन भारतीय दर्शन, बुद्ध की मूल शिक्षाओं, कालान्तर में हुए परिवर्तन, प्राचीन और अर्वाचीन तत्वों के तुलनात्मक रूप को स्पष्ट करने का सफल प्रयत्न था। अपने सभी शोध परिणामों और निष्कर्षों को भी उन्होंने अत्यन्त सुलझे रूप में सबके समक्ष रखा। इस प्रकार अपने अनुगामियों और अध्ययनशील व्यक्तियों का पथ प्रदर्शन किया। बौद्ध, जैन और हिन्दू धर्म, दर्शन पर तथा भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं पर उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं। अपनी एक पुस्तक में उन्होंने इस रहस्य का भी उद्घाटन किया है कि किस प्रकार प्रसिद्ध दार्शनिक काँट, हेगेल और शॉपेनहार ने भारतीय-दर्शन के आधारभूत सिद्धांतों को ही लेकर पाश्चात्य दर्शन में अपनी विचारधारा का प्रतिपादन किया है। यही नहीं हमारे साहित्य का पाश्चात्य देशों में प्रचार करने के उद्देश्य से हमारे साहित्यिक ग्रंथों तथा प्राचीन और अर्वाचीन काव्य का भी जर्मन भाषा में अनुवाद किया है। अनेक स्थलों पर उन्होंने पाश्चात्य देशों पर पड़े हुए भारतीय संस्कृति के प्रभाव का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। योरोप ही नहीं सुदूर पूर्व में बौद्ध धर्म का प्रभाव, वहाँ पर प्रचलित भारतीय परम्पराओं और विश्वासों की ओर भी सबका ध्यान आकृष्ट किया।

स्वर्गीय प्रो. ग्लासेनप्प का निरन्तर यही प्रयास रहा कि प्राच्यविद्या के सद्भावना, मैत्री और सहयोग आदि सिद्धांतों का सर्वत्र प्रचार किया जाए। योरोप में भारत विषयक ज्ञान प्राप्त करने के प्रति रुचि उत्पन्न करने तथा इस क्षेत्र में कार्य करने के लिये विद्वानों को उत्साहित करने का श्रेय इन्हें प्राप्त है। उनका विश्वास था कि यदि विश्वमैत्री संभव है तो केवल भारतीय आध्यात्मिकता के द्वारा ही संभव है। इसीलिये अपने साहित्य द्वारा उन्होंने यही सिद्ध किया है कि पाश्चात्यों के इस भौतिक संसार से परे भी कोई ऐसा भूभाग है, जहाँ आज भी मानवता और आध्यात्मिकता को महत्त्व दिया जाता है। भौतिक सुखों और भोग विलास की अपेक्षा जहाँ आज भी सादगी, त्याग, अहिंसा, धर्म और निःस्वार्थ सेवा का पाठ पढ़ाया जाता है। जिस वातावरण में आज भी ज्ञानियों, योगियों और साधु-संयासियों का धनाढ्यों की अपेक्षा अधिक सम्मान है। इस प्रवृत्ति का हमारे जीवन में क्या प्रभाव एवं स्थान है? यह प्रभाव हमें किस तरह ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य और संघर्ष से दूर ले जा सकता है? इन सभी तथ्यों को पाश्चात्य देशों के समक्ष रखने का प्रशंसनीय कार्य उन्होंने किया है। योरोपीय संकीर्णता की परिधि से बाहर आकर निष्पक्ष भाव से भारतीय ज्ञान-ज्योति की ओर विश्व का ध्यान आकृष्ट करने के लिये किये गए उनके अनेक प्रयास वस्तुतः सराहनीय हैं ।

शान्त स्वभाव के अध्यवसायी, उत्साही और मेधावी स्व. आचार्य ग्लासेनप्प से मिलने का मुझे अधिक बार सौभाग्य नहीं प्राप्त हो सका था। एक दिन अचानक मार्ग में चलते हुए मेरी भारतीय सखी श्रीमती नमिता दत्त ने जब उनसे मेरा परिचय कराया था, तब मैं ट्यूबिंगेन विश्वविद्यालय में नयी-नयी आई थी। उन्होंने बड़ी प्रसन्न मुद्रा में मेरे जर्मनी निवास और वहाँ अध्ययन के लिये अपना आशीर्वाद और शुभकामनाएँ दी थीं। तब क्या पता था कि शीघ्र ही मृत्यु उन्हें हमसे बहुत दूर कर देगी। कुछ दिनों के बाद ही सुना था कि एक कार दुर्घटना में उनको चोट आ गयी है और अस्पताल में उनके मस्तिष्क की शल्यक्रिया हुई है। छः सप्ताह वह अस्पताल में रहे थे और वहीं 25 जून 1963 को वह ब्रह्मलीन होकर चले गये। ■

प्रकाश मनु

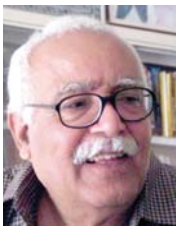

12 मई, 1950 को शिकोहाबाद, उत्तर प्रदेश में जन्म। आगरा कॉलेज से भौतिक विज्ञान में एम.एस-सी., हिंदी साहित्य में एम.ए.। कुछ वर्ष प्राध्यापक रहे। ढाई दशकों तक 'नंदन' के संपादन से जुड़े रहे। 3 उपन्यास, 14 कहानी संग्रह, 3 कविता संग्रह, आत्मकथा तथा बाल साहित्य की सौ से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। कई पुस्तकों का विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवाद। 'बाल साहित्य पुरस्कार', 'बाल साहित्य भारती पुरस्कार', साहित्यकार सम्मान' तथा 'गिरिजाकुमार माथुर स्मृति पुरस्कार' से सम्मानित। सम्पर्क : 545, सेक्टर-29, फरीदाबाद-121008 ईमेल : prakashmanu333@gmail.com

स्मरण

हिंदी के प्रतीक : राजर्षि टंडन

(जन्मदिवस 1 अगस्त पर विशेष)

हिंदी के अनन्य सेवकों में ही नहीं, हिंदी के सम्मान और स्वाभिमान की रक्षा के लिए लड़ने वाले महारथियों में भी राजर्षि टंडन जी का नाम सबसे आगे आता है। किसी भी अकेले व्यक्ति ने हिंदी को आगे बढ़ाने में उतना काम नहीं किया या हिंदी के लिए वैसी दुर्धर्ष लड़ाइयाँ नहीं लड़ीं, जैसी राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने। कदम-कदम पर उनके आगे मुश्किलें आईं। पर टंडन जी तो किसी और ही मिट्टी के बने थे। वे हर आँधी-तूफान में हिमगिरि की तरह अडिग खड़े रहे और हिंदी की सेवा के लिए जो कटुतम आलोचनाएँ और अपशब्द सुनने को मिले, उन्हें हिंदी का प्रसाद समझकर झोली में डाल लिया।

कहना न होगा कि टंडन जी आधुनिक हिंदी के सबसे बड़े अलंबरदारों में से थे, पर विनयी इतने कि न कभी उन्होंने अपने मुँह से अपनी हिंदी-सेवा की चर्चा की और न यह कभी चाहा कि लोग उनके सिर पर प्रशंसाओं के पुलिंदों का ताज रखकर अभिनंदन करें। यहाँ तक कि हिंदी के लिए उन्हें जो विकट शूल सहने पड़े, उन्हें लेकर अपनी विपदाओं का बखान करना भी उन्हें कतई प्रिय नहीं था। हिंदी उनके लिए भाषा नहीं, सचमुच माँ ही थी और बेटे को माँ की सेवा में अगर अथक कष्ट झेलने भी पड़ें, तो उसकी चर्चा वह स्वयं को या अपनी वत्सला जननी की ममता और बड़प्पन को क्यों छोटा करेगा?

ऊपर से देखने पर टंडन जी के जीवन में बड़ी विरोधाभासी स्थितियाँ नजर आती हैं। उनका परिवार राधास्वामी का अनुयायी था। टंडन जी पर भी इसका प्रभाव पड़ा। उनके रहने-सहने, वेश और खानपान में जो सादगी और सरलता थी तथा उनके मन में जो करुणा और परदुखकातरता थी, वह भी संभवतः वहीं से आई।

टंडन जी सादगी और सरलता की मिसाल थे और अपनी बहुत सादा कुरते-धोती वाली वेशभूषा से ही उनकी पहचान थी, पर बहुतों को शायद पता न हो कि कॉलेज के दिनों में वे क्रिकेट के बहुत अच्छे खिलाड़ी और अपनी क्रिकेट टीन के कप्तान थे। इसी तरह टंडन जी हिंदी के अनन्य भक्त थे, पर साथ ही वे फारसी के बहुत अच्छे विद्वान थे और अंग्रेजी भी उनकी बहुत अच्छी थी। पर इस सबके बावजूद उनका हिंदी प्रेम एक अनोखी मिसाल बन गया। इसकी कुछ-कुछ प्रेरणा उन्हें स्वदेशी आंदोलन से मिली। और फिर बालकृष्ण भट्ट सरीखे हिंदी के विद्वान साहित्यकार उनके गुरु थे, जिनके सान्निध्य में उनका हिंदी-प्रेम परवान चढ़ा। उनके पुत्र संतप्रसाद टंडन ने टंडन जी के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

"बाबू जी के जीवन को बनाने में चार व्यक्तियों का प्रमुख हाथ रहा है—उनके माता-पिता अर्थात हमारे पितामह और दादी, पंडित मदनमोहन मालवीय और पंडित बालकृष्ण भट्ट। हमारे पितामह से उन्हें सत्य पर अडिग रहने की शिक्षा मिली, दादी से स्वभाव की दृढ़ता मिली, मालवीय जी से समाज और हिंदी की सेवा और भट्ट जी से हिंदी में लिखने की प्रेरणा मिली।"

यही नहीं, टंडन जी घर-परिवार में कैसे थे, यह जानना और भी दिलचस्प है। घर पर भी उनकी छवि के साथ ईमानदारी और कठोर अनुशासन इस कदर जुड़ा हुआ था कि बच्चों और घर-परिवार के दूसरे सदस्यों पर इसका गहरा असर पड़ा। उनके बड़े बेटे डा. संतप्रसाद टंडन ने 'मेरे पिताजी' शीर्षक से लिखे गए लेख में घर-परिवार में टंडन जी के गुणों, दिनचर्या और ऐसी बहुत सी बातों के बारे में लिखा है, जिन्हें पढ़कर मन चकित होता है, अभिभूत भी।

सरल मन के भीतर असाधारण दृढ़ता : टंडन जी के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी खूबी यह थी कि वे ऊपर से संत सरीखे सरल नजर आते थे, पर उनके भीतर एक आदि

टंडन जी के लिये हिंदी स्वदेशी का मूलमंत्र थी और आत्मगौरव, आत्मसम्मान की भाषा। अपनी जमीन, अपनी धरती की भाषा, जो पूरे देश को एकता के सूत्र में बाँधती थी। आजादी की लड़ाई जिन हथियारों से लड़ी गई उनमें हिंदी भी थी, जिसने पूरे देश के जनमानस को भावांदोलित कर दिया।

विद्रोही भी बैठा था, जो किसी भी अन्याय के विरोध में तनकर खड़ा हो जाता था। एक बार वे कोई फैसला कर लेते तो कोई उन्हें सत्य पथ से डिगा नहीं सकता था। जिन दिनों टंडन जी वकालत कर रहे थे, तब की एक घटना है, जिससे उनकी असाधारण दृढ़ता का पता चलता है। उन दिनों इस तरह की बहुत घटनाएँ हो रही थीं, जिनमें लोगों को झूठे सपने दिखाकर लोभ-लालच से या फिर जबरदस्ती फिजी आदि मुल्कों में भेजा जाता। वहाँ उन पर भीषण अत्याचार होते। बहुत कठिन और अमानवीय स्थितियों में उन्हें रहना पड़ता था।

एक दिन टंडन जी को पता चला कि शहर में बहुत से गरीब लोगों को इसी तरह बहला-फुसलाकर या फिर जोर-जबरदस्ती से किले में ले जाया जा रहा है, ताकि उन्हें बँधुआ मजदूर बनाकर दूसरे मुल्कों में भेजा जा सके। इस पर टंडन जी ने इसके विरोध में पूरे इलाहाबाद में एक बड़ा आंदोलन खड़ा कर दिया। हर तरफ उसकी चर्चा थी। बाद में यह खबर अंग्रेज जिलाधिकारी तक भी पहुँची। उसने टंडन जी को बुलाकर समझाया कि अभी तुम्हारे सामने पूरा भविष्य पड़ा है। इसलिए इस तरह की बातों से तुम्हें दूर रहना चाहिए। पर टंडन जी ने बड़ी विनम्रता और दृढ़ता के साथ कहा, "अगर कहीं अन्याय हो रहा हो, तो उसका विरोध किए बिना मैं हरगिज नहीं रह सकता।"

जितनी बार उस अंग्रेज अधिकारी ने उन्हें भला-बुरा समझाने की कोशिश की, उतनी ही बार टंडन जी से अविचलित भाव से यही उत्तर दिया। इस पर अंग्रेज जिलाधिकारी ने बिगड़कर कहा, "लगता है, तुम अंग्रेज हुकूमत के विरोधी हो?" टंडन जी ने उसी दृढ़ता से कहा, "आपको यह बात बहुत देर से पता चली!"

सुनकर वह अंग्रेज अधिकारी भौंचक्का रह गया। कोई हिंदुस्तानी अंग्रेज अधिकारी के मुँह पर ऐसी बात कहे, उस समय कोई यह कल्पना भी नहीं कर सकता था। पर टंडन जी मन से निर्भीक थे और जहाँ सच्चाई का प्रश्न हो, वहाँ कोई तिल भर उन्हें झुका नहीं सकता था। इस घटना से पता चलता है कि उनकी विनम्रता के भीतर कैसा चट्टानी मन था, जो बड़े से बड़े खतरे उठा सकता था।

कहना न होगा कि टंडन जी की ऊपरी सरलता के बावजूद उनका मन इस्पाती था। भीतर की पूरी दृढ़ता और टंकार के साथ वे कहते थे, "देश की सेवा बाजार की चीज नहीं है। वह बेची नहीं जाती है। जिस देश में दूध नहीं बेचा जाता था, कन्या नहीं बेची जाती है, देशभक्ति भी वहाँ बिकती नहीं है। देशभक्ति तो देश के लिए है। उसके लिए कृष्ट उठाना ही अपना संतोष है। यही आनंद है।"

यहां इस बात का उल्लेख जरूरी है कि गांधी जी ने टंडन जी के एक पत्र के उत्तर में बड़ी स्पष्टता और दृढ़ता से कहा था कि, "मेरे लिए हिंदी का प्रश्न तो स्वराज्य का प्रश्न है।"

टंडन जी ने हिंदी के प्रश्न को इस तरह हवाओं में गुँजा दिया था कि पराधीनता के काल में देशसेवा के साथ-साथ राष्ट्रभाषा हिंदी की सेवा का भी राजनेताओं ने प्रण कर लिया। हिंदी स्वदेशी का मूलमंत्र थी और आत्मगौरव, आत्मसम्मान की भाषा। अपनी जमीन, अपनी धरती की भाषा, जो पूरे देश को एकता के सूत्र में बाँधती थी। लिहाजा आजादी की लड़ाई जिन हथियारों से लड़ी गई उनमें हिंदी भी थी, जिसने पूरे देश के जनमानस को भावांदोलित कर दिया।

टंडन जी के अनुरोध पर ही गांधी जी इंदौर में हिंदी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष बने। कुछ अरसे बाद इंदौर में ही वे फिर से हिंदी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष बने। दक्षिण भारत में हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए गांधी जी के अनुरोध पर दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की स्थापना की गई। ये सभाएँ हिंदी साहित्य सम्मेलन के अंतर्गत ही काम कर रही थीं, जिन्होंने दक्षिण भारत में हिंदी के प्रचार-प्रसार में बड़ी उल्लेखनीय भूमिका निभाई। इसी तरह नगालैंड, मिजोरम, और कश्मीर सरीखे राज्यों में भी हिंदी के प्रचार-प्रसार में सम्मेलन ने काम किया। इस सबके पीछे टंडन जी के कर्मठ और तेजस्वी व्यक्तित्व का ही बल था।

हिंदी-सेवा के लिए बड़े से बड़ा पद भी छोड़ा : पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी ने जो टंडन जी के बेहद निकट थे, उन पर बड़ा आत्मीय संस्मरण लिखा है। इसमें टंडन जी की फूलों सरीखी कोमलता और बज्र सरीखी कठोरता दोनों का ही चित्रण है। उनका अनुशासन कितना कठोर था और वे

जनता की कितनी चिंता करते थे, इसका एक उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किया है। उन्होंने बताया कि टंडन जी प्रयाग नगरपालिका के पहले गैर-सरकारी अध्यक्ष थे। इससे पहले हमेशा आई.सी.एस. अंग्रेज ही इसके अध्यक्ष हुआ करते थे। पर फिर सरकार ने निर्णय किया कि गैर-सरकारी अध्यक्ष हुआ करेंगे और टंडन जी प्रयाग नगरपालिका के पहले अध्यक्ष नियुक्त हुए।

उन दिनों एक ऊँचे पद पर विराजमान अंग्रेज अधिकारी इलाहाबाद में रहते थे और उनके घर एक बहुत बड़ा स्विमिंग पूल था। उत्तर प्रदेश का पहला वाटर वर्क्स इलाहाबाद में ही बना था। शुरू में तो उससे पानी की पर्याप्त मात्रा लोगों को मिलती थी, पर फिर आबादी बढ़ने के साथ-साथ लोगों को किल्लत होने लगी। उच्च पदासीन अंग्रेज अधिकारी का स्विमिंग पूल भी इसी पानी से भरता था, जो लोगों को पीने के लिए मिलता था।

टंडन जी ने देखा कि लोग तो पीने के पानी के लिए भी तरस रहे हैं और इतना पानी स्विमिंग पूल भरने में चला जाता है। उन्होंने फौरन आदेश जारी किया कि स्विमिंग पूल के लिए पानी नहीं मिलेगा। जब पीने के लिए पानी की इतनी किल्लत है तो स्विमिंग पूल के लिए पानी देना मैं विलासिता समझता हूँ। लिहाजा उन्होंने स्विमिंग पूल को पानी देने से साफ इनकार कर दिया। इस पर वे अंग्रेज अधिकारी बहुत झुँझलाए। टंडन जी पर तमाम दबाव भी पड़े। उस समय टंडन जी के लिए कैसी मुश्किलें आई होंगी, इसकी कल्पना की जा सकती है। पर टंडन जी एकदम अडिग थे और एक बार जो निर्णय कर लिया, उस पर जरा भी झुके नहीं।

टंडन जी त्याग की मूर्ति थे। हिंदी के लिए उन्होंने बड़े से बड़े पद और सम्मान की परवाह नहीं की। यहाँ तक कि राज्यपाल का पद भी उन्हें इसके आगे तुच्छ लगा और उन्होंने एक क्षुद्र तिनके की तरह उसका परित्याग कर दिया। टंडन जी ने राजनीति से लेकर भाषा और समाज निर्माण के कार्यों तक एक से एक बड़ी जिम्मेदारियों का निर्वहन किया। पर उनका तेज, दृढ़ता और ईमानदारी की कड़क सच्चाई ऐसी थी उनके राजनीतिक विरोधी भी उनकी तारीफ करने पर बाध्य हो जाते। देश के आम चुनावों के बाद जब उत्तर प्रदेश सरकार बनी, तो टंडन जी विधान सभा अध्यक्ष चुने गए। उस समय उन्होंने जिन आदर्शों को सामने रखा और विधान सभा अध्यक्ष पद के लिए जो प्रतिमान गढ़े, आज भी बड़े आदर से उनकी चर्चा होती है। उन्होंने निष्पक्षता और तटस्थता की मिसाल कायम की और एक पल के लिए भी अपने कर्तव्य से नहीं चूके। इसके लिए मंत्रियों तक को उनका कोपभाजन होना पड़ता था और वे अपने आचरण या अनुशासन में कोई दोष होने पर टंडन जी के आगे क्षमाप्रार्थी होते थे।

विधान सभा अध्यक्ष के रूप में टंडन जी इतने निष्पक्ष और समदर्शी थे कि कोई उन पर भेदभाव का आरोप नहीं लगा सकता था। एक बार उन्हें पता चला कि एक राजनीतिक दल के कुछ सदस्य उन पर भेदभाव का आरोप लगाते हुए अविश्वास प्रस्ताव लाने जा रहे हैं। इस पर टंडन जी ने विधानसभा में जो शब्द कहे, वे हैरान कर देने वाले हैं। उन्होंने एक नैतिक ललकार के साथ कहा—

"मैंने सुना है कि कुछ लोग मुझ पर अविश्वास का प्रस्ताव लाना चाहते हैं। इस सदन में वे अल्पमत में हैं और उनका प्रस्ताव पारित नहीं हो सकेगा। और मैं अध्यक्ष बना रहूँगा। किंतु बहुमत के बल पर अध्यक्ष बना रहना मुझे इष्ट नहीं है। मैं इस पद पर तभी रह सकता हूँ, जब सदन के प्रत्येक सदस्य को मेरी निष्पक्षता में पूरा विश्वास हो। अतएव अविश्वास का प्रस्ताव लाने की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं बहुमत के बल पर इस पद पर नहीं रहना चाहता। यदि इस सदन में तीन सदस्य खड़े होकर या लिखकर कह दें कि उन्हें मुझमें विश्वास नहीं है, तो मैं तत्काल त्यागपत्र दे दूँगा। मैं तभी अध्यक्षता कर सकता हूँ, जब प्रत्येक सदस्य का मुझ पर विश्वास हो।"

अनेक वर्षों तक टंडन जी के सान्निध्य में रहे भाषाविज्ञानी उदयनारायण तिवारी ने उन पर लिखे गए संस्मरण में कई अंतरंग प्रसंगों की चर्चा की है। वे लिखते हैं कि उनके निकट रहकर किसी की निंदा नहीं की जा सकती थी।

बिना मातृभाषा के कोई देश आगे नहीं बढ़ सकता : टंडन जी हिंदी के झंडाबरदार थे, पर हिंदी और हिंदी साहित्य को लेकर उनका ज्ञान अगाध था और चिंतन एकदम खुला हुआ। सभी संकीर्ण हदबंदियों से परे। वे

टंडन जी त्याग की मूर्ति थे। हिंदी के लिए उन्होंने बड़े से बड़े पद और सम्मान की परवाह नहीं की। यहाँ तक कि राज्यपाल का पद भी उन्हें इसके आगे तुच्छ लगा और उन्होंने एक क्षुद्र तिनके की तरह उसका परित्याग कर दिया।

हिंदी के लिए निरंतर काम करना ही टंडन जी का जीवन-तप था। सार्वजनिक जीवन में काम करते हुए, छोटी से छोटी चीजों की वे परवाह करते थे। इसलिए कभी उनकी धवल कीर्ति में कोई दाग नहीं लगा। वे इसी धरती के थे, पर इससे कुछ ऊपर भी।

दूरद्रष्टा थे और हिंदी के जरिए राष्ट्रनिर्माण का स्वप्न देख रहे थे। वे जानते थे कि पराई भाषा अंग्रेजी के जरिए नहीं, बल्कि हिंदी के जरिए भारतीयों की आत्मिक उन्नति और देश का सर्वमुखी विकास हो सकता है। वे हिंदी को सामंजस्य और समरसता की भाषा मानते थे, जिसके साथ स्वदेशी गौरव का भाव जुड़ा है। लिहाजा हिंदी को लेकर टंडन जी के विचार आज भी हमें दिशा दे सकते हैं।

टंडन जी का मानना था कि हर मुल्क और हर सभ्यता का उसकी भाषा से उतना ही गहरा ताल्लुक है, जितना उसकी आबोहवा से। उन्होंने साफ-साफ देशवासियों को यह बात भी समझाई कि "राष्ट्रीयता और हिंदी दो चीजें नहीं, एक हैं।" और इसीलिए वे मानो गहरे आवेश और दीवानगी के साथ कहते हैं, "मातृभाषा को तिरस्कृत करना अपने प्राचीन इतिहास को भूल जाना, परंपरा का ज्ञान खो देना, मानो अपने बुजुर्गों को मिट्टी में मिला देना और अपने को नपुंसक बना देना है।"

हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का विरोध कर रहे लोगों का कहना था कि हिंदी को पूरे देश में नहीं समझा जाता। तो फिर भला वह राष्ट्रभाषा कैसे हो सकती है? इसका सीधे-सादे अल्फाज में जवाब देते हुए टंडन जी कहते हैं, "हिंदी संस्कृत की पुत्री है। इस कारण समस्त देश में किसी न किसी रूप में समझी जाती है।" हिंदी ही नहीं, उत्तर भारत की सभी भाषाएँ हिंदी से बहुत गहराई से जुड़ी हैं तो दक्षिण भारत की तमिल, तेलुगु, मलयालम और कर्नाटक भी। और मराठी, गुजराती सरीखी भाषाएँ तो संस्कृत के बेहद करीब हैं ही। तो फिर संस्कृत की पुत्री होने के कारण हिंदी का सभी से सहज रिश्ता हुआ। यही वजह है कि पूरे देश में कहीं भी जाएँ, कामचलाऊ हिंदी बोलने और समझने वाले लोग जरूर मिल जाते हैं। यही समूचे भारत में हिंदी की सर्व व्याप्ति का दर्शन है, जिसकी ओर बड़ी विनम्रता से टंडन जी ने इशारा किया है।

इसी तरह टंडन जी देवनागरी लिपि की सरलता और वैज्ञानिकता के कारण उसके बड़े पैरोकार थे। उनका मानना था कि हिंदी ही नहीं, अन्य भाषाओं को भी देवनागरी लिपि को अपनाना चाहिए, ताकि वे अधिक से अधिक लोगों तक पहुँच सकें। देवनागरी के बारे में टंडन जी ने बड़े आत्मविश्वास के साथ कहा कि– "हमारी लिपि देवनागरी सबसे अधिक वैज्ञानिक है।" इसलिए "अगर मुल्क भर के लिए एक प्रकार के हरूफ काम में लाए जाएँ तो वे देवनागरी हरूफ ही हो सकते हैं।"

हिंदी के प्रति टंडन जी के अनुराग का एक बड़ा कारण यह भी है कि वे अच्छी तरह समझते हैं कि अपनी भाषा में दी गई शिक्षा ही बच्चे के मन पर गहरा असर डालती है और इसी से उसका बौद्धिक और आत्मिक विकास होता है। इसलिए वे किसी राजनेता की तरह नहीं, बल्कि परिवार के किसी समझदार बुजुर्ग या मुखिया की तरह बहुत आग्रहपूर्वक कहते हैं कि शिक्षा अपनी भाषा में हो, यह जरूरी है। बगैर किसी किंतु-परंतु के वे दोटूक लहजे में कहते हैं कि "हमारी अपनी भाषा के माध्यम दारा ही हमारा शिक्षण हो, यह आवश्यक सिद्धांत है।" इन शब्दों के पीछे उनकी सच्चाई और दृढ़ता दोनों की ही गहरी छाप नजर आती है।

सच तो यह है कि टंडन जी हिंदी को भी देशसेवा का ही एक प्रबल माध्यम मानते हैं, क्योंकि उसी से देश का सांस्कृतिक विकास हो सकता है और देश की एकता भी उसी से संभव है। बगैर हिंदी के आप देश की समूची जनता से संवाद नहीं कर सकते और न एक साथ करोड़ों लोगों के सुख-दुख और भावनाओं से एकाकार हो सकते हैं। इसीलिए आगे चलकर सक्रिय राजनीति की डगर छोड़कर, टंडन जी ने अपने लिए एक अलग राह चुनी और खुद को पूरी तरह हिंदीमय बना लिया।

हिंदी के लिए निरंतर काम करना ही टंडन जी का जीवन-तप था। सार्वजनिक जीवन में काम करते हुए, छोटी से छोटी चीजों की वे परवाह करते थे। इसलिए कभी उनकी धवल कीर्ति में कोई दाग नहीं लगा। वे इसी धरती के थे, पर इससे कुछ ऊपर भी। राजनीति में खूब सक्रिय रहे, बड़े से बड़े पदों पर रहे। पर दलों के दलदल से ऊपर ही रहे। हिंदी के लिए पूरा जीवन खपाया और बड़ा आंदोलन चलाया, पर और भाषाओं का विरोध करके नहीं। उनका सपना आज भी हिंदी जगत को हिम्मत बँधाता है और नि:स्वार्थ भाव से हिंदी के लिए बड़े काम करने की प्रेरणा देता है।■

प्रतिभा चौहान

10 जुलाई को हैदराबाद में जन्म। इतिहास में एमए तथा एलएलबी की उपाधियाँ प्राप्त कीं। हिन्दी साहित्य से गहरा लगाव। "पेड़ों पर मछलियाँ" कविता संग्रह प्रकाशित। कविताएँ देश की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। कविताओं का अनेक भाषाओं में अनुवाद। अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तराष्ट्रीय सेमिनार में शिरकत व आलेख पाठन। संप्रति- न्यायाधीश, हाजीपुर (नालंदा) बिहार न्यायिक सेवा। सम्पर्क : cjpratibha.singh@gmail.com

ताकि बचा रहे बचपन

कभी नाजुक हाथों में खिलौना लिए, दादी-नानी की कहानियाँ सुनता और माँ की लोरी से मीठे सपनों का संसार सजाता बचपन आज किताबों तले दबा हुआ एवं गलाकाट प्रतियोगिता में घुटनभरी आवाज लिए बेचैन है। नई परिपाटी का आगाज कर रहे हम आज विकास एवं आधुनिकता के नये मापदंड तय कर रहे हैं वहीं दूसरी ओर उत्तरोत्तर विकास की सीढ़ियां भौतिकतावादी संस्कृति को बढ़ावा दे रही है। हमारी प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के उद्भव से लेकर आज तक की दूरी को तय करते हुए बचपन सदैव ही एक कोमल, नाजुक, पवित्र, सहृदय, निश्चल भावों को लिए हुए अपने आप में एक अद्भुत अनुभूति है, किन्तु जिस प्रकार संस्कृति का विकास हुआ है उसको विकास के रूप में न देखकर नकारात्मक भावों के रूप में देखने पर हम आज अनायास ही मजबूर हैं, ऐसी परिस्थिति में यदि हमारे ही समाज में पारिवारिक-संस्कृति, सामाजिक-आचरण, मानवता, संयम, त्याग, धैर्य, समर्पण आदि तथ्यों को पुरानी बातें जानकर ठुकराया जाने लगे और ऐसी परिस्थिति में पलने-बढ़ने वाले बचपन यदि आपने मौलिक स्वरूप से विमुख होते जा रहे हों तो उनमें उनका क्या दोष? बचपन एक गीली मिट्टी के समान वह अनढला स्वरूप है जिसे किसी भी साँचे में ढाल कर उसके अनुरूप बनाया जा सकता है। कम उम्र में बच्चों द्वारा किये जाने वाले अपराध, उनकी बढ़ती हिंसक मनोवृत्ति या थोड़ी-सी बात पर हिंसा का सहारा लेना घर से पलायन इत्यादि यह दर्शाता है कि हमने भौतिकतावादी चीजों को तो विकास के नाम पर बढ़ावा दिया है, किन्तु पारिवारिक मूल्य जो प्राचीन सांस्कृतिक विरासत में मिले थे, जिन्हें हमने पुष्पित पल्लवित होने का मौका नहीं दिया, कहीं गर्त में पड़े अंतिम साँसे गिन रहे हैं। प्रगति एवं विकास किसी समाज का वह मापदण्ड होता है जिसमें ऊपर की ओर बढ़ने की सकारात्मक प्रवृत्ति दिखायी दे, किन्तु यदि हम समृद्धि के नाम पर अच्छे मकान, अच्छी कारें, अच्छी सड़कें और अन्य सभी भौतिकतावादी साधनों को पाने की होड़ में अपने समाज के बचपन को प्रारम्भ होने से पहले ही प्रौढ़ बना दें तथा उनके हाथों में ऐसी विध्वंसक चीजें थमा दें जिसके कि चारों ओर प्रदूषित वातावरण तैयार हो जाए तो ऐसा विकास विकास न होकर पिछड़े हुए मानवीय परिवेश के रूप में परिलक्षित होगा। आज बच्चों और किशोरों के बीच पनपती हिंसा एक बहुत बड़ी चिन्ता

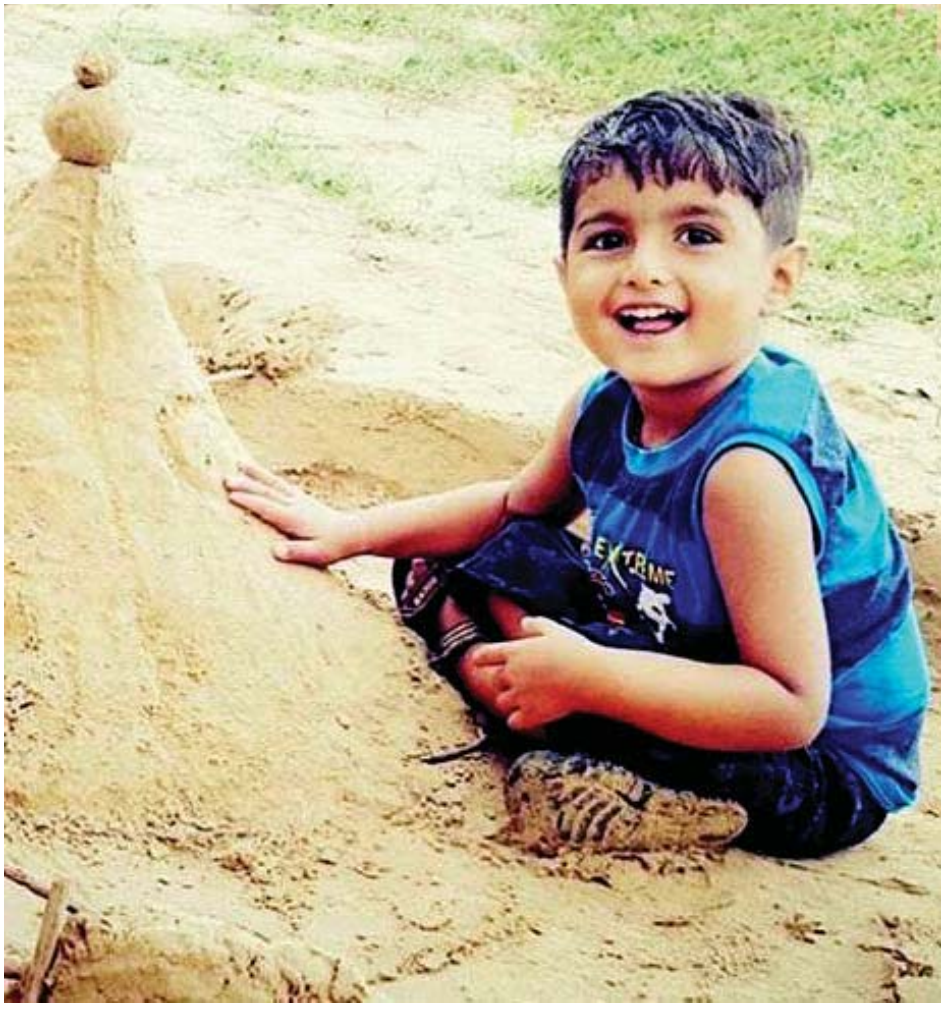

कई शोध अध्ययनों से ये निष्कर्ष निकाला गया है कि बच्चों में पनपते हिंसक व्यवहार के कई कारण हो सकते हैं, जिनमें बच्चे के साथ कोई हिंसा की वारदात, घर या समुदाय में हिंसा, अनुवांशिक कारण, मीडिया द्वारा परोसी जाने वाली हिंसा, दवाओं या मादक द्रव्यों का प्रयोग, तनावपूर्ण पारिवारिक जीवन या स्वभाववश कारण शामिल हैं।

का विषय है। माता-पिता, शिक्षकों एवं समाज के अन्य व्यक्तियों के ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व ग्रहण करने हेतु संकेत करता है। कई शोध अध्ययनों से ये निष्कर्ष निकाला गया है कि बच्चों में पनपते हिंसक व्यवहार के कई कारण हो सकते हैं, जिनमें बच्चे के साथ कोई हिंसा की वारदात, घर या समुदाय में हिंसा, अनुवांशिक कारण, मीडिया द्वारा परोसी जाने वाली हिंसा, दवाओं या मादक द्रव्यों का प्रयोग, तनावपूर्ण पारिवारिक जीवन या स्वभाववश कारण शामिल हैं। अगर हम प्राचीन समय से आधुनिक समय की तुलना करें तो ये समझ सकते हैं कि जो बचपन सड़क और गली में खेलकर गुजरा करता था वो आज की चारदीवारी में घुटनभरा माहौल जीने को मजबूर है।

आज बदलाव के इस युग में सब कुछ बहुत तेजी से बदल रहा है लोगों की अनुभूतियाँ, आचार-विचार, इच्छाएँ, स्वरूप, चिंतन सबकुछ तेजी से बदल रहा है। विकास की गति पूर्व की तुलना में कई गुना अधिक हो गयी है किन्तु जैसे-जैसे इस विकास का बदलाव का संवेग तेज हो रहा है नयी-नयी समस्याएँ, मनोवैज्ञानिक प्रवृतियाँ, मानसिक विषाद, मनोविलासिता, नकारात्मक संवेग, प्रतियोगिता एवं मानसिक विकृति इत्यादि जन्म लेते जा रहे हैं। जहाँ पर किसी बच्चे का संरचनात्मक सामाजिक समर्थन उसकी गुणवत्ता के कारण या किसी अन्य कारण से कम होने लगता हो तो ऐसी विकृतियाँ उभरना शुरू हो जाती हैं। बालक में सामाजिक सांस्कृतिक वातावरण का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है। जिस वातावरण में हिंसा और शोषण की प्रबलता होती है उस वातावरण में जन्मे व पले-बढ़े बच्चों का व्यक्तित्व शोषण और हिंसा करने वाला हो जाता है। जो व्यवहार विभिन्न प्रकार के मानसिक संघर्षों से गुजरते हुए एक प्रौढ़ या वयस्क का हुआ करता था, या परिलक्षित होता था आज वो बालकों में दिखाई दे रहा है। हमारे दैनिक व्यवहार में कुछ ऐसी कुप्रवृतियां स्वयं अभिभावकों द्वारा डाली जा रही हैं जिन्हें 'मैनर्स' और 'एडीकेट्स' का जामा पहनाकर कोमल मन पर आघात किए जा रहे हैं जिनका प्रभाव आगे आने वाले समय में मानव सम्बन्धों के विखराव के रूप में दिखाई देगा।

वर्तमान समय में माता-पिता की अपेक्षाएँ अत्यधिक उच्च कोटि की तथा अवास्तविक होती हैं। उनमें यथार्थ का अभाव होता है। वे बच्चों में अनुशासन, परिश्रम, सहिष्णुता जिम्मेदारी तथा अनेक स्वस्थ एवं आदर्श व्यक्तित्व के लक्षणों का स्वप्न सजाते हैं। उसकी क्षमताओं के अधिकतम विकास हेतु आधुनिकतम सुविधाएं जुटाते नजर आते हैं जिसका सीधा प्रभाव बालकों में तनाव के रूप में परिलक्षित होता है। मानवतावादी मनोदर्शन यह बताता है कि व्यक्ति घर, परिवार, समय, संस्कृति और अपने अनुभवों द्वारा स्थापित बाधाओं और प्रतिबन्धों के कारण पूर्णरूप से कार्य नहीं कर पाता एवं व्यक्ति की अन्तर्निहित क्षमताओं का अधिकतम विकास नहीं हो पाता। अत: इस प्रकार के बच्चों में सकारात्मक दृष्टिकोण को विकसित करके उनमें अपनी क्षमताओं और सीमाओं को पहचानने हेतु माता-पिता द्वारा सुरक्षा एवं संरक्षण की पर्याप्त आवश्यकता होती है। बहुधा देखा गया है कि किशोरों का अपना कोई लक्ष्य नहीं होता जबकि यही वह वस्तु है जिसे पाने की आकांक्षा में जीवन को अर्थपूर्ण तरीके से जिया जाता है।

विभिन्न सामाजिक, पारिवारिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से बच्चों से भिन्न-भिन्न अपेक्षाएं हो सकती हैं, किन्तु ये अपेक्षताएं यथार्थवादी होनी चाहिए न कि वास्तविकता के धरातल से परे अतिवादी। यहाँ पर माता-पिता संरक्षकों या किसी बालगृह अथवा रिमाण्ड होम विशेष गृहों के संरक्षकों को यह बात जानना आवश्यक है कि बच्चे को जो इनके पास उनके संरक्षण में हैं उसे ऐसा परिवेश व वातावरण प्रदान करें जिनमें उन पर अपेक्षाओं का बोझ कम हो और मानसिक रूप से स्वच्छ निर्णय लेने की क्षमता का विकास हो। इन बातों के होने पर ही बालक का बालपन सुरक्षित रह सकता है। इसके लिए स्वयंसेवी संगठन, विद्यालय, मनोचिकित्सक, मनोविश्लेषक, माता-पिता, शिक्षक, व्यवसायिक संगठन एक महती भूमिका निभा सकते हैं जो आवासीय संरक्षण केन्द्र, विद्यालय एवं कॉलेज एवं कार्यस्थल आदि पर जाकर किशोरों एवं बालकों को परामर्श दे सकते हैं। वर्तमान समय में जो व्याप्त सामाजिक

सांस्कृतिक अंतराल दिखाई पड़ता है वह हमारे विकास का ही परिणाम है किन्तु व्यवहार, मूल्यों के प्रति भी सजग रहने की मानवीय आवश्यकता है। अधिकतर देखा गया है कि धर्म की आड़ में स्वयं शोषण व अनुगामिता को बढ़ावा मिलता है जिसका सीधा-सीधा शिकार महिलाएं होती हैं, जो अपने अन्दर जन्मने वाली आत्मकुंठा, तनाव एवं नकारात्मक सोच अपनी अगली संतती को प्रवाहित करती हैं। अत: आज न केवल बचपन को बचाने की दरकार है बल्कि आत्ममंथन का भी समय है। जब तक हम मानसिक रूप से स्वस्थ या सुदृढ़ होकर अच्छे विचारों को अपने अन्दर जन्म नहीं देंगे तब तक इस विषय पर तर्क करना भी निरर्थक है। हमारी संस्कृति में हमारे मूल्यों, अभिरुचियों एवं व्यवहारों का समावेश होता है। हमारी भारतीय संस्कृति की परम्परा कुछ इस तरह की रही है अत: हमारे भारतीय समाज के सभी सदस्यों को ऐसे ही मूल्य व्यवहार एवं अभिरुचियों को जीवन में धारण करना होगा ताकि जीवन में आने वाली पीढ़ी अन्य संस्कृतियों के प्रभाव में आकर उनकी अच्छी चीजें तो ग्रहण करे लेकिन अपनी मूल भावना को न छोड़े। बच्चे किसी की देश का भविष्य होते हैं अत: उनके विकास मानसिक स्वास्थ्य, व्यवहार आदि को सही दिशा देना हमारा परम कर्तव्य हो जाता है। ऐसा इतिहास हमें बताता है कि पूर्वकाल में बच्चों और किशोरों को स्वयं अन्य तथा जगत के बारे में भलीभांति प्रशिक्षण दिया जाता था, उन्हें जीवन के क्षेत्र में अच्छा करने हेतु लगातार प्रेरित किया जाता था, जिसकी आज के समय में नितान्त कमी महसूस होती है। यही कारण है कि आज के बच्चे और किशोर लक्ष्यविहीन जीवन जीते हुए बुरी संगति में फंस जाते हैं और बड़े से बड़े अपराधों को अंजाम देते हैं। किशोरों में बढ़ती हुई हिंसा अति चिंता का विषय है। हाल फिलहाल की घटनाएँ ये दर्शाती हैं कि अपराधों में किशोरों की संख्या बढ़ती जा रही है। हांलाकि किशोर न्याय बालकों का संरक्षण अधिनियम वर्ष 2000 में पारित हुआ, जिसका मुख्य उदेश्य है अपराधी प्रकृति के बालकों को न्यायिक प्रक्रिया अपनाकर उनमें सुधार करना।

अपराधिक प्रवृतियों के जन्म लेने के पीछे कई महत्वपूर्ण कारण हैं जैसे गरीबी, बेकारी, गलत परवरिश, गलत संगति या अनुवांशिक प्रभाव। इसके अतिरिक्त कई अमीर घरों के बच्चे भी अपराधिक प्रवृति में संलिप्त पाये जाते हैं। यहाँ पर यह बात अति ध्यान देने योग्य है कि अपराधों में वे बच्चे या किशोर ही सम्मिलित हैं जिन पर उनके माता-पिता या संरक्षकों का नियंत्रण नहीं है। माँ-बाप को बच्चों को देने के लिए पर्याप्त समय नहीं है और न ही उनके पास अच्छे और बुरे का भेद बताने वाली शिक्षा है। जहाँ एक ओर एक बच्चे को प्यार, सहानभूति और पुचकार की आवश्यकता होती है और वहीं दूसरी ओर उचित नियन्त्रण की भी आवश्यकता होती है। आंकड़े दर्शाते हैं कि हिंसात्मक प्रवृतियाँ उन्हीं बालकों और किशोरों में अधिक तेजी से पनपती हैं जिनमें नियन्त्रण या आत्मनियन्त्रण का अभाव है। यह समस्या एक परिवार, एक समाज एवं देश की समस्या ही नहीं समस्त विश्व की समस्या है। आतंकवादी गतिविधियों को अंजाम देने वाला अजमल कसाव तथा नई दिल्ली की 16 दिसम्बर 2012 की वीभत्स घटना में संलिप्त किशोर इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। किशोरों में एक प्रौढ़ व्यक्ति की अपेक्षा अधिक ऊर्जा और कुछ कर गुजरने की इच्छा अधिक तीव्र होती है और इसी समय पर उनकी इस ऊर्जा शक्ति को सही दिशा देने की आवश्यकता होती है।

रिसर्च में यह सामने आया है कि संचार माध्यमों में प्रस्तुत हिंसा के कारण समाज में हिंसा और आक्रामकता बढ़ी है, खासतौर पर किशोर और बच्चों में। जिस अनुपात में समाज में वास्तव में अपराध होते हैं या हिंसक वारदातें होती हैं उससे कहीं अधिक अनुपात में संचार माध्यमों के जरिये हिंसा का होना दिखाया जाता है जिस कोमल मन पर यह प्रभाव पड़ता है कि सम्पूर्ण समाज में अपराधियों का ही बोलवाला है। कुछ इस उम्र के बच्चे अपराधियों को रोल मॉडल बना लेते हैं। उसी स्टाइल में बात करना उसी स्टाइल में चलना उसी स्टाइल में बाल रखना अपनी शान समझते हैं, अत: यहाँ पर संचार माध्यमों के समाज के विकास में योगदान पर भी सवाल उठाया जाना चाहिए कि आखिर उनके द्वारा इन दिशा में कितना योगदान दिया जा

हमारी भारतीय संस्कृति की परम्परा कुछ इस तरह की रही है अत: हमारे भारतीय समाज के सभी सदस्यों को ऐसे ही मूल्य व्यवहार एवं अभिरुचियों को जीवन में धारण करना होगा ताकि जीवन में आने वाली पीढ़ी अन्य संस्कृतियों के प्रभाव में आकर उनकी अच्छी चीजें तो ग्रहण करे लेकिन अपनी मूल भावना को न छोड़े।

रहा है उचित अनुपात को उनके द्वारा बदलकर किन अभिरुचियों को कम महत्व दिया गया तथा किनको कितना उपेक्षित कर दिया गया और किन्हें सबसे ज्यादा अनुपात में रखा गया। इसके अतिरिक्त हमेशा हिंसा द्वारा ही बुराई पर अच्छाई की विजय दिखायी जाती है जिसमें हिंसा को जायज ठहराया जाता है। कभी-कभी किशोर इस तरह की नकल करते हुए दिखाई देते हैं । हमारी अन्य संस्थाएं जैसे परिवार, स्कूल, कालेज, मन्दिर इत्यादि जो अहम भूमिका निभाते थे उसको हमारे दूरदर्शन ने फीका कर दिया है। सारा ध्यान संचार माध्यमों ने खींचा है अतः उनकी ओर अधिक ध्यान देने के कारण उनके द्वारा दिखाई जाने वाली चीजों का प्रभाव किशोरों पर अधिक होता है। सांस्कृतिक प्रदूषण बढ़ाते समाचार-पत्र, पत्रिकाएं, विज्ञापन, फिल्में, नाटकों से किशोरों को दूर रखना या उन्हें देखने पर नियन्त्रण लगाना आसान बात नहीं है बल्कि इससे उल्टे और अधिक खराब परिणाम निकल सकते हैं क्योंकि जो चीज आसानी से नहीं मिलेगी तो अल्प उम्र के किशोर इसे चोरी छिपे प्राप्त करने की कोशिश करेंगे। अतः आज इस सच्चाई से रूबरू होने के लिए जबाबदेही माँ-बाप पर आ जाती है।

एक अध्ययन में यह बात उजागर हुई कि कुछ आदिवासियों को टेलीविजन दिखाया गया जिन्होंने पहले कभी नहीं देखा था। उन्हें हिंसात्मक दृश्य दिखाये गए, परिणामस्वरूप यह पुष्टि हुई कि आदिवासियों में हिंसा में वृद्धि हुई। अगर इतिहास टटोलें तो यह पता चलेगा कि बीसवीं सदी मानव इतिहास में सबसे ज्यादा हिंसक रही है और यह आंकड़े कहीं बढ़े हैं तो कहीं घटे हैं। एक अध्ययन के मुताबिक ब्राजील में इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में पच्चीस प्रतिशत से ज्यादा किशोरों की मौत दुर्घटना और आत्महत्या जैसे हिंसात्मक कृत्यों की वजह से हुई है जो कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हुई मौतों से लगभग चार गुना ज्यादा है।

मारधाड़ और हिंसा से भरपूर दृश्यों वाले टीवी प्रोग्राम या वीडियो गेम्स किशोर बच्चों को हिंसा के लिए न केवल उकसा रहे हैं वरन् संवेदनहीन बना रहे हैं। वैज्ञानिक रिसर्च है कि दिमाग का वो हिस्सा जो भावनाओं को नियंत्रित करता है और बाहरी घटनाओं पर प्रतिक्रिया जताता है जिसे वयस्क होने पर विकसित होना चाहिये वह बचपन के दौर में विकसित हो रहा होता है, फलतः कम उम्र के बच्चों में अधिक प्रतिक्रिया व क्रूरता जन्म ले रही है जो कि उन्हें संवेदनहीनता की ओर ले जा रही है। समाज में होने वाली क्रूरतम घटनाएं इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। परिवार, समाज से लेकर देश में होने वाली बड़ी-बड़ी घटनाओं को ऐसे अल्पवयस्क ही अन्जाम दे रहे हैं और वो दिन दूर नहीं कि बड़े-बड़े अपराधी गिरोह ऐसे बच्चों का सहारा लेकर समाज में अराजकता फैलाने का काम करने लगेंगे। कहीं-कहीं यह शुरुआत भी हो चुकी है।

अमेरिकी विशेषज्ञ मानने लगे हैं कि मानव इतिहास में यह सर्वाधिक हिंसा का युग है। अमेरिका के कई राज्यों के स्कूलों में रिवाल्वर रखने वाले किशोरों की संख्या बढ़ी है। ऐसा नहीं है कि केवल भारत के पिछड़े राज्यों में ही वीभत्स हिंसक घटनाएं हुई हैं बल्कि विकसित देशों में भी ऐसी घटनाएँ होती हैं। आज हम आर्थिक असमानता की बात करते हैं तो ज़ेहन में आता है कि केवल भौतिक विकास करने से ही इस समस्या का हल नहीं निकल सकता, बल्कि हमें सामाजिक कटुता जैसे मूल कारण को भी ध्यान में रखना होगा ।

अतः जब हम इस समस्या के निवारण की दिशा की ओर सोचते हैं तो यह जानना अति आवश्यक है कि किशोरों के विकासात्मक, संवेगात्मक, समायोजनात्मक, मनोगत व्यसनिता और अन्य अनेक समस्याओं के क्षेत्र में सहयोग की आवश्यकता होती है जो कि उन्हें अपने माता, पिता, संरक्षक, शिक्षक, सहयोगी व समाजसेवकों के सहयोग एवं परामर्श द्वारा मिल सकता है। इसी तरह के शिक्षण, प्रशिक्षण एवं परामर्श द्वारा ही कुछ हल निकाला जा सकता है। बच्चों में मनो-शैक्षिक निर्देशन, निर्णय रचना, समस्या समाधान, समायोजन, आपदकालीन हस्तक्षेप एवं प्रबन्धन, लक्षण उन्मूलन अन्तःदृष्टि का विकास, आत्म बोध का विकास, परिवेश एवं स्वयं के प्रति सकारात्मक दृषिटकोण विकास, जीवन में सार्थकता एवं अर्थबोध का विकास, व्यवहार परिमार्जन एवं व्यकितत्व परिवर्तन, व्यवस्था, संगठन या समाज में परिवर्तन उपयुक्त स्वास्थ्य व्यवहार का विकास भी इस माध्यम से हो सकता है। बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखना इनके संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास को सहज बनाना है।

अब यह अनुभूति हो चुकी है कि हिंसा और संवेदनहीनता को रोकने हेतु गाँधीजी की अहिंसा को अपनाने, इसकी शिक्षा एवं बढ़ावा देने के अतिरिक्त और कोई दूसरा चारा नहीं है। यही कारण है कि सम्पूर्ण अमेरिका के किशोरों में बढ़ती हिंसा के कारण न्यूजर्सी की विधानसभा में गांधीजी की अहिंसा संबंधी शिक्षाओं को पाठशालाओं के पाठ्यक्रम में शामिल करवाने हेतु एक विधेयक प्रस्तावित किया गया है जिसका उद्देश्य है बालकों में अहिंसा की भावना का प्रादुर्भाव करना। अतः आज फिर उन्हीं कहीं खोते जा रहे नैतिक मूल्यों की ओर लौटने की आवश्यकता है जिन्हें हम भूलने की भूल कर रहे हैं, ताकि बचपन की मौलिकता को बचाया जा सके। ■

प्रो. अनिल कुमार

6 जुलाई 1951 को छपरा, बिहार में जन्म। भौतिकी में एम.एस-सी तथा पीएच.डी. की उपाधियाँ प्राप्त कीं। फ्रांस सरकार की पोस्ट-डॉक्टरेट शोध अध्येतावृत्ति प्राप्त हुई। राईस विश्वविद्यालय, हॉस्टन, संयुक्त राज्य अमेरिका : पोस्ट-डॉक्टरेट शोध अध्येतावृत्ति-सह-व्याख्याता रहे। 4 दर्जन शोध-पत्र प्रकाशित। अनेक संस्थाओं से जुड़े रहे। विभिन्न पुरस्कारों से सम्मानित। जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा के भौतिकी विभाग के अध्यक्ष के पद से अवकाश ग्रहण। सम्प्रति - पटना में निवास। संपर्क : 104, वसुंधरा ला ग्रीनो, न्यू बाईपास रोड, कंकरबाग, पटना, ईमेल - anilnivedita@gmail.com

मौलिक बल : एक परिचय

आज एक पुराने फोटो एल्बम को उलट-पलट रहा था, तभी कुछ प्यारी सी तस्वीरें दिखीं; साथ ही उन दिनों की यादें जेहन में उभर आईं। क्या वक्त था वह भी; उस समय तो कॉलेज की पढाई जल्दी ख़त्म हो और फिर अच्छी पगार वाली नौकरी मिल जाय, यही दो ख्वाहिशें बेचैन किये रहती थीं। अब लगता है, काश वक्त वहीं ठहर गया होता! मगर ऐसा होता कहाँ है। खैर, उन तस्वीरों ने एक और बात की याद दिला दी; हम सब अभी-अभी कॉलेज में पहुँचे थे और अपनी ही कक्षा के कुछ निकट के मित्रों के साथ मिलकर हम ने "युवा संगठन" नामक एक संस्था बनाई थी। एक प्रश्न आप पूछ ही सकते हैं; उस छोटे से शहर में हमारा मिलना तो रोज ही होता होगा, फिर इस संस्था का प्रयोजन? तो बात ऐसी थी कि सभी मित्र सामान्य आर्थिक पृष्ठभूमि से आते थे, कॉलेज की पढाई के अतिरिक्त प्राइवेट ट्यूशन की कोई गुंजाइश ही नहीं थी, पर उसकी कमी कभी-कभी खलती जरूर थी। इसी के मद्देनजर हमने यह संस्था बनाई जिसका उद्देश्य था सप्ताह में प्रत्येक रविवार को शाम में एक घंटे के लिए मिल बैठ कर केवल पढाई-लिखाई की बात करना। हमने यह महसूस किया कि ऐसा करने से हमारी ढेरों समस्याएं परस्पर सहयोग से ही हल हो जाती थी। एक मित्र के बड़े भाई, श्री अमल कुमार बोस, जो स्थानीय विश्वविद्यालय के विज्ञान संकाय के बड़े ही मेधावी छात्र थे और हम सबों के दादा (बड़े भाई), उन्होंने जब हमारी संस्था के बारे में जाना तो बड़े खुश हुए। उन्होंने हमें शाबासी दी और वादा किया कि महीने में एक बार वे भी हमारी बैठक में सम्मिलित होंगे, हमारे प्रश्नों का समुचित उत्तर देंगे और हमारी शंकाओं का समाधान भी करेंगे। इसके बड़े फायदे हुए, हम सबों का अपने वर्ग में प्रदर्शन बेहतर होने लगा, हमारे शिक्षक भी हम से प्रसन्न रहने लगे। अन्दर की बात तो यह है कि कुछ मित्रों के लिए हम ईर्ष्या के भी पात्र बन गए थे। ऐसी ही एक बैठक में अनौपचारिक बातचीत के क्रम में मेरे मित्र अनुभव ने दादा से पूछा,

"अच्छा दादा, कपड़ों पर पानी डालो तो वह गीला क्यों हो जाता है, लगता है जैसे उसने पानी सोख लिया हो?"

दादा मुस्कुराये,

"अपने प्रश्न का उत्तर तो तुम ने ही दे दिया; पानी कपड़े से चिपक जाता है; स्पष्ट है दोनों के बीच कोई बल काम कर रहा होगा जो उन्हें परस्पर बांध देता होगा। मगर यह प्रश्न पूछा ही क्यों, यह तो तुम सबों को पढाया गया होगा?"

"कहाँ दादा, अभी तो नामांकन को केवल एक सप्ताह हुए हैं; शायद हम आगे पढ़ें। मगर दादा, वही पानी किसी प्लास्टिक के टुकड़े पर डालने से क्यों नहीं चिपकता?"

दादा की बात ख़त्म हुई नहीं कि सुमन बोल उठा,

"और दादा, खादी के कपड़ों पर पानी डालो तो वह काफी पानी सोख लेता है, सूती कपड़ा कम सोखता है और रेशमी तो और भी कम - ऐसा क्यों?"

"अरे बाबा, खादी तो पानी हो या समाज का रूपया, सब सोखने की क्षमता रखता है।"

ऐसा सुन सभी हंसने लगे, पर दादा ने तुरत अपना जबाब पूरा किया,

"खैर यह तो थी मजाक की बात; मगर इसका अर्थ यह हुआ कि पानी का इन कपड़ों या अन्य वस्तुओं के

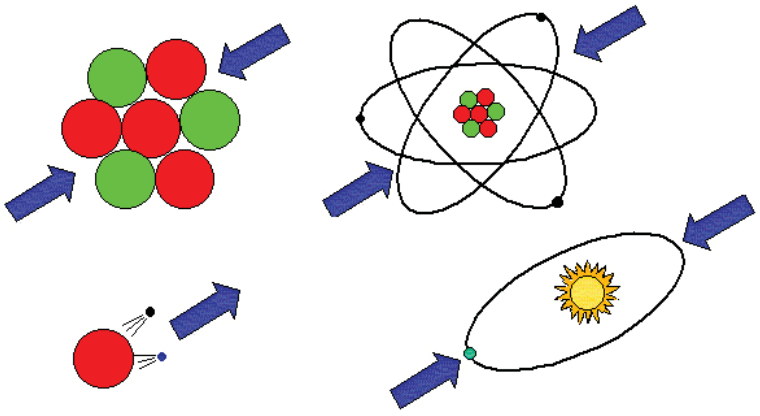

साथ बंधन अलग-अलग प्रबलता वाला होता होगा जिस कारण कहीं पकड़ कमजोर होती है तो कहीं मजबूत। अब इनके बीच यह बल कैसे पैदा होता है, कौन इसके लिए जिम्मेदार है, ये बातें तुम इसी वर्ग में पढोगे; फ़िलहाल यही समझ लो कि ये बल दोनों के अणुओं के बीच लगते बलों का सम्पूर्ण योग है जिसे तुम चिपकने के रूप में देखते हो।"

हमारे बीच सबसे तीव्र बुद्धि का विद्यार्थी था आफ़ताब; हम उसे आइंस्टीन कहते थे (वैसे भी अफ़ताब सूरज को ही कहते हैं)। तभी आइंस्टीन बोल पड़ा,

"दादा, अणु तो परमाणुओं के बंधन से बनते हैं, और परमाणु के भीतर धन आवेश वाले नाभिक और ऋण आवेश वाले इलेक्ट्रान होते हैं। ये भी तो आपस में बंधे होते हैं न?"

हम सभी चौंक पड़े; अरे अभी हमने तो इन बातों के बारे में पढ़ना ही शुरू किया है, और यह इतनी जानकारी कहाँ से ले आया? आइंस्टीन ने हमारी उत्सुकता का झिझकते हुए उत्तर दिया,

"अरे भाई, मैं नैनीताल के एक महाविद्यालय में नामांकन की तैयारी कर रहा हूँ, इसीलिए कोर्स से बाहर की कुछ चीजों को भी पढ़ता रहता हूँ। मगर मैं ने जो कहा वह सही तो है न दादा? फिर भी दादा, एक बात मेरी समझ में नहीं आती; नाभिक और इलेक्ट्रान भले एक छोटे से स्थान में पैक हों पर हैं तो अलग-अलग, फिर वे बिना किसी संपर्क के आपस में बंध कैसे जाते हैं। बल लगने के लिए दो वस्तुओं को आपस में सम्पर्कित भी तो होना चाहिए?"

मुझे भी मौका मिल गया; मैं देर से इसका इन्तजार कर था,

"दादा, मुझे यह बात पल्ले नहीं पड़ती कि उपर फेंकी गयी गेंद कुछ ऊंचाई तक जाकर आखिर लौट कैसे आती है, कौन है जो उसे वापस खीच लाता है।"

"क्यों, तू ने न्यूटन और उसके अविष्कार के बारे में नहीं सुना है? अरे इसी तरह की घटना के बाद तो गुरुत्व बल की ब्याख्या की थी उसने और आज सारी दुनियाँ उसके नाम की माला जपती है।"

"चलो मान लिया कि गुरुत्व, अर्थात पृथ्वी द्वारा आरोपित आकर्षण बल वस्तुओं को उसकी तरफ खीच लाता है और यही बल हमें भी धरती से बाँध कर रखता है; मगर पेड़ों के जड़ में पानी डालो तो वह उसके तनो के द्वारा ऊपर कैसे पहुंचा दिया जाता है, उस समय गुरुत्व बल कहाँ चला जाता है,"

"अरे बाबा, उस समय एक अन्य बल ज्यादा प्रभावी होता है जिसे पृष्ठ तनाव का बल कहते हैं; तुम लोग इस विषय में बाद में विस्तार से पढोगे। यही बल कागज पर फैले स्याही को ब्लॉटिंग पेपर के ऊपर पहुंचा देता है जिससे वह मूल आलेख पर नहीं पसरता।"

"दादा, आखिर कितने तरह के बल होते हैं, उनके कितने प्रकार होते हैं? इसी के साथ एक प्रश्न स्वाभाविक तौर पर उभरता है: आखिर प्रकृति इतनी जटिल क्यों है?"

"अरे नहीं यार, प्राकृतिक तथ्य या घटनाएँ जितनी जटिल दिखती हैं उतनी हैं नहीं, मगर उसके लिए तुम्हे उनके अन्दर प्रवेश कर समझने की कोशिश करनी होगी; सतही अध्ययन करने वालों के सामने वह अपने भेद नहीं खोलती। सुना नहीं है, जिन ढूँढा तिन पाईयाँ गहरे पानी पैठ।"

दादा की बातों ने हमारी उत्सुकता बढ़ा दी, हम सभी लगभग एक स्वर में बोल पड़े,

"दादा, प्लीज, हमें प्रकृति में लगते बलों के बारे में बताइए ना, आप तो इन्हें अच्छी तरह से जानते होंगे?"

"यार, यह इतना आसान कार्य नहीं है; तुम्हारे पास ना तो अभी भौतिकी की वैसी जानकारी है और न तुम सब उच्च स्तरीय गणित से परिचित हो, फिर मैं इतने कठिन तथ्यों को कैसे समझाऊँगा।"

प्रकाश ने मक्खन लगाया,

"दादा, आप अगर नहीं समझा सकते तो दूसरा कोई इनकी व्याख्या नहीं कर सकता। आखिर आपने इंजीनियरिंग में नामांकन नहीं करवाया क्योंकि आप अपने को एक स्वाभाविक शिक्षक मानते हैं और वही बनना भी चाहते हैं; फिर आप से ज्यादा उपयुक्त इस कार्य के लिए कौन होगा।"

"बस, बस, कोई मक्खनबाजी नहीं; चलो मैं प्रयास करता हूँ, देखता हूँ कितनी सफलता मिलती है मुझे।"

इतना कह कर दादा शुरू हो गए,

"देख, मैं भी हैरान हो जाता था जब पुरानी फिल्म महल का यह गाना बजता था: सोच-सोच हम करे अचम्भा, नजर न आता एक भी खम्भा, फिर भी ये आकाश खड़ा है, हुआ करोड़ों साल....। यह सत्य है कि आगे बढ़ने पर मैंने गुरुत्व बल के विषय में पढ़ा, और उसके प्रभाव में सूर्य के चारो तरफ पृथ्वी का घूमना भी जाना। मगर वह मूल तथ्य तो मेरे दिमाग में प्रश्न चिह्न की तरह सदैव उपस्थित रहा: आखिर वह 'डोर' कहाँ है जो इन दोनों को बाँध कर रखे हुए है। धीरे-धीरे अध्ययन की सीढियाँ चढ़ते हुए मैंने न केवल गुरुत्व बल को समझा बल्कि अन्य मौलिक बलों को समझ पा..."

अभी दादा की बात पूरी भी नहीं हो पाई थी कि सुधीर,

जिसे हम बेचैन बनारसी कहते थे, बीच में कूद पड़ा,

"दादा, एक मिनट, अब यह मौलिक बल कौन सी बला है?"

"देख, दुनिया में जितने तरह के बल दिखें, महसूस हों, सब चार प्रकार के मौलिक बलों के अन्तर्गत आते हैं। यदि तुम सबों ने इन्हे समझ लिया तो समझ ले पूरी रामायण ख़त्म।"

"वाह दादा, यही ठीक रहेगा; तो हम शुरू कहाँ से करें?"

"हम शुरू करेंगे उसी प्रश्न से जो सबसे पहले तुम सबों के दिमाग में आया होगा : बिना संपर्क में आए दो पिंड एक दूसरे पर बल आरोपित करते कैसे हैं, क्योंकि दैनिक जीवन में हमें ऐसा देखने को मिलता नहीं। इसके लिए स्थूल जगत (Macro World) का एक उदाहरण बड़ा ही सहायक सिद्ध होगा। मान ले बेचैन बनारसी, तू और आफ़ताब अपनी हाथों में एक-एक गेंद लिए थोड़ी दूरी पर खड़े हो तो क्या उस स्थिति में तुम दोनों के बीच कोई बंधन माना जायेगा; नहीं न? अब बिना संपर्क में आए तुम दोनों के बीच एक बंधन बनाना हो तो तुम दोनों अपनी अपनी गेंद एक-दूसरे की ओर फेंकना तथा अपनी ओर आती गेंद को लपकना शुरू कर दो। इस तरह तुम दोनों एक-दूसरे से बंध जाओगे, अर्थात तुम्हारे बीच एक बल उपस्थित हो जायेगा। जब तक यह खेल चलता रहे तब तक तुम दोनों के बीच बंधन भी बना रहेगा। इस सन्दर्भ में एक और ध्यान देने योग्य बात है; तुम्हारे बीच आदान-प्रदान होते गेंद यदि बहुत भारी हों तो उन्हें ज्यादा दूर तक फेंक पाना संभव नहीं होगा, अर्थात तुम दोनों के बीच के बंधन का परास सीमित हो जायेगा। दूसरी तरफ फेंके जाने वाले गेंद जितने हल्के होंगे इस बंधन का परास उतना ही ज्यादा होगा; वह ज्यादा दूरी तक तुम दोनो को बांधे रखेगा।"

"दादा, गेंद की बात तो समझा, मगर ऐसे पहेलियाँ बुझाते रहोगे तो हम मौलिक बलों के बारे में क्या खाक समझ पाएंगे; मैं तो वैसे भी थोड़ी मोटी अक्ल का हूँ, साफ़ साफ़ कहो न क्या बतलाना चाहते हो।"

"इतनी बेताबी अच्छी नहीं; चल इस स्थूल जगत के उदाहरण को सूक्ष्म जगत में लेकर चलते हैं और सबसे पहले उस मौलिक बल की बात करते हैं जिसे विद्युत्-चुम्बकीय बल कहा जाता है। इतना तो सभी जानते हैं कि ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थ रसायनिक तत्वों से बने हैं जिनके सबसे छोटे निर्माण खंडक (building block) को परमाणु कहते हैं। परमाणु इतना सूक्ष्म होता है कि सबसे शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी भी इसे नहीं दिखला सकता। इसके आकार को कुछ ऐसे समझ सकते हैं - यदि एक टेनिस गेंद का निर्माण करना हो तो इस कार्य के लिए लगभग पौन अरब परमाणुओं की आवश्यकता होगी, अर्थात एक परमाणु टेनिस गेंद की तुलना में पौन अरब गुना छोटा होता है। मगर आश्चर्य है कि इस सूक्ष्म आकार में भी वैज्ञानिकों ने इसकी संरचना को ढूँढ निकाला; मैंने पूर्व में भी कहा था : जिन ढूँढा तीन पाईयाँ गहरे पानी पैठ। परमाणु के केंद्र में - जो उसके विस्तार का एक अत्यंत छोटा हिस्सा ही घेरता है - एक धनाविष्ट स्थल होता है जिसे नाभिक कहते हैं; परमाणु के द्रव्यमान का 99% से भी ज्यादा इसी केन्द्रक में समाहित होता है। नाभिक को आवृत्त करते ऋणाविष्ट कण इलेक्ट्रान होते हैं, जिनका द्रव्यमान परमाणु की तुलना में नगण्य माना जा सकता है। नाभिक की भी अपनी संरचना होती है, उसमें मोटे तौर पर कहें तो दो प्रकार के कण उपस्थित रहते हैं - धनाविष्ट प्रोटान और (विद्युत रूप से उदासीन) न्यूट्रॉन। इस तरह परमाणु के भीतर धन एवं ऋण आवेश दोनों उपस्थित हैं और इन्हें परस्पर बाँध कर रखने वाला बल है विद्युत्-चुम्बकीय बल। अब इस बल के अदृश्य डोर को समझने की कोशिश करें; इस हेतु :

"आवेशों के बीच किसी प्रकार की 'गेंद', यानि किसी विशिष्ट कण, के विनिमय की जानकारी मिल जाय तो उनके बीच लगते बल की व्याख्या संभव है।"

हम सभी दादा को ध्यानपूर्वक सुन रहे थे; अब उनकी बातें धीरे-धीरे समझ में आने लगी थी पर सबसे ज्यादा उतावला तो प्रकाश हो रहा था। मैंने हँसते हुए दादा से गुजारिश की,

"दादा, अब मुख्य बात पर थोडा विस्तार से प्रकाश डालिए न; देखिये हमारा मित्र प्रकाश अँधेरे में रास्ता टटोल रहा है।"

"अच्छा तो सुन, जब दो आवेश एक-दूसरे के निकट हों तो उनक बीच एक विशेष प्रकार के मौलिक कण फोटोन (प्रकाश के कण) का आदान-प्रदान होता रहता है और यही विनिमय उनके बीच एक मौलिक बल को जन्म देता है, जिसे विद्युत्-चुम्बकीय बल कहते हैं। दूसरे शब्दों में आविष्ट कणों के बीच बंधन की अदृश्य डोर एक दूसरी तरह के मौलिक कण (फोटोन) बनाते हैं। और हाँ, इस मौलिक बल का यह नाम एक बात और बतलाता है - विद्युतीय और चुम्बकीय प्रभाव आपस में बड़े घनिष्ट तरीके से जुड़े हैं; इनमें किसी एक की उपस्थिति दूसरे को जन्म दे सकती है। इसके व्यवहारिक उदाहरण, विद्युत् जनित्र (Generator), जहाँ एक कुंडली को चुम्बकीय क्षेत्र में घूर्णित करा कर विद्युत् धारा उत्पन्न किया जाता है, से तू सब परिचित है। अब देख यहाँ मैंने एक शब्द मौलिक कण का उपयोग

किया; आगे बढ़ने से पहले उसके बारे में भी थोड़ी जानकारी आवश्यक है। ऐसे कण जो अन्य कणों में विभक्त न हो सके मौलिक कण कहलाते हैं, जैसे नाभिक के बाहर स्थित इलेक्ट्रान। अब तू पूछ सकता है - क्या धनाविष्ट प्रोटान,और न्यूट्रॉन भी मौलिक कण हैं; इस पर अभी नहीं, थोड़ी देर बाद विचार करेंगे।"

दादा थोड़ी देर सांस लेने के लिए रुके; वैसे हमें भी उनके लेक्चर को आत्मसात करने के लिए समय तो चाहिए ही था। मगर प्रकाश का ख्याल कर दादा जल्द ही पुनः शुरू हो गए,

"देख, यह बात समझ ले, आवेशों के बीच दूरी जितनी कम होगी विद्युत्-चुम्बकीय बल उतना ही मजबूत होगा; उनके बीच की दूरी बढ़ने से यह बल कमजोर होता जायेगा। स्थूल जगत में इसका अनुभव नहीं होने का भी कारण यही है। मगर यह मत भूल, परमाणु-संरचना में इस बल की बड़ी ही महत्वपूर्ण भूमिका है; धन आवेश वाले नाभिक से ऋणाविष्ट इलेक्ट्रान को यही बाँध कर रखता है और यही बंधन परमाणु को स्थायित्व भी प्रदान करता है। अब यह तो बताने की आवश्यकता नहीं है न कि आवेश दो प्रकार के होते हैं - धन आवेश तथा ऋण आवेश; समान प्रकार के आवेश एक-दूसरे पर विकर्षण का बल लगाते हैं जबकि भिन्न प्रकार के आवेशों के बीच आकर्षण का बल आरोपित होता है। याद रख परमाणु का आकार अत्यंत छोटा होता है और उस छोटे से स्थान में नाभिक और इलेक्ट्रान, एक दूसरे से अत्यंत कम दूरी पर ब्यवस्थित होते हैं; यही बात बतलाती है कि विद्युत्-चुम्बकीय बल अत्यंत छोटी दूरियों पर ही प्रभावी होता है।"

बेचैन बनारसी ने एक बड़ा ही माकूल प्रश्न दागा,

"अच्छा दादा, परमाणु के भीतर फोटोन की तरह के कुछ अन्य मौलिक कण भी होते हैं क्या, या अदृश्य डोर बनाने वाला यही एकमात्र मैलिक कण है जिसे वैज्ञानिक जानते हैं?"

दादा फिर मुस्कुराये,

"तुझ में धैर्य तो है ही नहीं, पर इसमें एक अच्छी बात भी है बनारसी; चीजों को जानने की अदम्य इच्छा ही मनुष्य को सीखने का रास्ता दिखलाती है। चल एक बार पुनः वापस लौटें परमाणु की ओर जिसे कभी तत्वों का लघुत्तम निर्माण खंडक (Building Block) कहा गया था और जिसके दूसरे छोटे कणों में टूटने को वैज्ञानिकों ने असंभव बताया था। पर इसके अटूट होने का भ्रम जल्द ही टूट गया, आज परमाणु की बनावट से तो सामान्य जन भी परिचित हैं। लेकिन तुम सबों के लिए नाभिक में स्थित प्रोटान और न्यूट्रॉन के विषय में कुछ जानना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रारंभ में इलेक्ट्रान, प्रोटान एवं न्यूट्रॉन तीनों को मौलिक कण माना गया, पर भौतिकी में समय के साथ होती प्रगति ने यह स्पष्ट किया कि उपर्युक्त तीनों कणों में मात्र इलेक्ट्रान ही एक मौलिक कण है, शेष दो एकीकृत (composite) कण हैं जो अन्य मौलिक कणों के मजबूत बंधन से बने हैं। कौन हैं ये मौलिक कण और उनके बीच कैसा बंधन है - ये ऐसे प्रश्न हैं जिनके उत्तर की तलाश में वैज्ञानिकों को परमाणु के केंद्र में स्थित अति सूक्ष्म नाभिक में घुस-पैठ करनी पड़ी। और ऐसा करना संभव हो सका उच्च-उर्जा (High-energy) भौतिकी में हुई अप्रत्यासित प्रगति से।"

मुझ से अब रहा नहीं गया,

"दादा, यह बात मेरे भेजे में नहीं घुसती कि सभी प्रोटान तो धनाविष्ट हैं, तब उनके बीच आरोपित विद्युत्-चुम्बकीय बल उन्हें परस्पर विकर्षित करते होंगे; और यह प्रतिकर्षण बेहद प्रबल भी होता होगा क्योंकि नाभिक के आकार के कारण धनाविष्ट प्रोटान कणों के बीच की दूरी तो बहद कम होती गयी। फिर नाभिक को स्थायित्व कौन प्रदान करता है? ऐसे में नाभिक का स्थायित्व मुझे तो चमत्कार जैसा ही लगता है।"

"नहीं, चमत्कार तो यह है कि तेरे मोटे दिमाग में भी इतना सूक्ष्म प्रश्न उत्पन्न हो गया। इसी असहज प्रश्न के उत्तर की तलाश ने वैज्ञानिकों को एक अन्य मौलिक बल तक पहुँचाया। तार्किक ढंग से सोचा जाय तो नाभिक में वर्तमान शक्तिशाली प्रतिकर्षण (विद्युत्-चुम्बकीय) बल के बावजूद यदि उसका अस्तित्व बरक़रार है तो अवश्य उसमे कोई अन्य आकर्षण बल उपस्थित होगा जो विद्युत्-चुम्बकीय प्रतिकर्षण की अपेक्षा बहुत ज्यादा शक्तिशाली होगा। इस बल के वजूद को जानने का एक मात्र उपाय है नाभिक का विखंडन; उच्च ऊर्जा भौतिकी में इस क्षेत्र में किये गए प्रयोगों तथा उनके सैद्धांतिक विश्लेषणों से यह स्पष्ट हो गया कि नाभिक में विद्युत्-चुम्बकीय बल से हजारों गुना ज्यादा समर्थ दूसरा बल भी उपस्थित है, जिसको भौतिकी शास्त्रियों ने नाम दिया प्रबल बल (Strong Force)। इसी के साथ यह जानकारी भी सामने आई कि प्रोटान तथा न्यूट्रॉन मौलिक कण नहीं बल्कि एकीकृत कण हैं जिनका निर्माण अन्य मौलिक कणों से हुआ है।"

"अब और मौलिक कण, क्या सुरसा के मुह की तरह इतने सूक्ष्म स्थल में भी मौलिक कणों की संख्या बढती ही जाएगी?"

"परिवार के बड़े बुजुर्गों को कहते नहीं सुना है क्या : जगह घर में नहीं दिल में होना चाहिए, इसी कहावत को चरितार्थ करता है नाभिक। परमाणु की तुलना में बेहद छोटा होने के बावजूद इसका दिल बड़ा ही विशाल है रे; इसमें बहुत बड़ी संख्या में मौलिक कणों का निवास है। यह संख्या कितनी है, अभी तक निश्चित तौर पर मालूम नहीं। उच्च ऊर्जा भौतिकी के क्षेत्र में हो रहे शोध कार्य ने अब तक बस इतना ही बताया है कि नाभिक में बड़ी संख्या में मौलिक कण उपस्थित हैं और भविष्य में इनकी संख्या और बढ़ने की सम्भावना प्रबल है। इन कणों पर विस्तृत चर्चा यहां संभव नहीं पर अपनी आवश्यकता के अनुरूप यहाँ हम एक विशेष तरह के मौलिक कणों के बारे में चर्चा अवश्य करेंगे - ये कण हैं क्वार्क -जो नाभिक में रहते तो हैं पर स्वतंत्र अवस्था में नहीं। ये कण आपस में बंधकर प्रोटान तथा न्यूट्रॉन का निर्माण करते हैं। इनका निर्माण और फिर उन्हें बांध कर रखना, इस जिम्मेदारी का निर्वाह एक-दूसरे तरह के मौलिक कण करते हैं जिन्हें हम ग्लूऑन के नाम से जानते हैं। याद रहे अंग्रेजी में गोंद को glue कहा जाता है जो 'चिपकाने' के काम आता है। दूसरे शब्दों में कहें तो क्वार्क्स के बीच ग्लूऑन एक अदृश्य डोर पैदा करता है जो प्रोटान एवं न्यूट्रॉन जैसे एकीकृत कणों के निर्माण के लिए जिम्मेदार है; यह है प्रबल बल जो ज्ञात चारो मौलिक बलों में सबसे सशक्त मौलिक बल है। इस बल से केवल प्रोटान और न्यूट्रॉन का ही निर्माण नहीं होता बल्कि यह उन्हें भी आपस में बड़ी मजबूती से बाँध कर रखता है। मगर इसकी उपस्थिति मात्र नाभिक के भीतर देखी गयी है जो बतलाता है कि इसका परास अर्थात प्रभाव क्षेत्र बड़ा ही सीमित होता है; नाभिक के बाहर यह उसी तरह प्रभावहीन हो जाता है जैसे परमाणु के बाहर विद्युत्-चुम्बकीय बल। यही बल नाभिक को अतिरिक्त स्थायित्व प्रदान करता है जो परमाणु के हिस्से में नहीं आती। तभी तो परमाणुओं के मेल से अणु बने और फिर उनकी अन्योन्यक्रियाओं (interactions) ने पूरी कायनात को जन्म दिया। यहाँ इसे जानना अभिष्ट होगा कि प्रबल बल का ग्लूऑन एक मामले में फोटोन की तरह ही होता है; दोनों का द्रव्यमान और आवेश शून्य होता है, पर ग्लूऑन के पास एक अतिरिक्त विशेष गुण होता है जिसे रंग-आवेश (colour charge) कहते हैं। यहाँ बस इतना ही कहूँगा कि रंग-आवेश जैसे युग्मित शब्द को बनाने के लिए उपयोग में लाये गए दोनों शब्द आवेश तथा रंग हमारे दैनिक जीवन के आवेश एवं रंग से बिलकुल भिन्न हैं; वास्तव में ये इन मौलिक कणों के क्वांटम गुण हैं जो प्रबल बल की उत्पत्ति के लिए जिम्मेदार हैं। स्थूल जगत के पदार्थों (कणों) में ऐसे किसी गुण की कल्पना भी नहीं कर सकते- बात कुछ समझ में आई?"

"है तो थोड़ा मुश्किल, पर आपके समझाने के अंदाज ने एक मोटा सा चित्र दिमाग में फिट तो कर ही दिया है। पर साथ ही एक और प्रश्न दिमाग में उत्पन्न हो गया दादा: क्या यह कह सकते हैं कि फोटोन और ग्लूऑन एक ही परिवार के सदस्य हैं?"

"कमाल है, इतनी ऊँची बातें तू सब कैसे सोंच ले पा रहा है? खैर जो भी हो, प्रश्न बड़ा माकूल है और इसका उत्तर भी उतना ही महत्वपूर्ण। इस प्रकार के बंधन तैयार करने वाले कणों के सामूहिक-व्यवहार-गणित को, जिसे सांख्यिकी (statistics) कहते हैं, सर्व प्रथम हमारे देश के एक महान भौतिकीविद प्रो. सत्येन्द्र नाथ बोस ने अल्बर्ट आइंस्टीन के साथ मिलकर समझाया। इस सांख्यिकी को बोस-आइंस्टीन सांख्यिकी के नाम से पुकारते हैं, और इन मौलिक कणों को बोसॉन।"

"दादा, तुम भी तो बोस दादा ही हो ना, मुबारक हो, तुम्हारे नाम पर तो मौलिक कणों के एक परिवार का ही नाम पड़ गया।"

"चुप शैतान, क्या मेरा तेरा कर रहा है, यह पूरे राष्ट्र के लिए गौरव की बात है कि कलकत्ता तथा ढाका विश्वविद्यालय में कार्यरत रहे प्रो. बोस के इस मौलिक कार्य को पूरी दुनियाँ ने सराहा और क्वांटम भौतिकी के प्रमुख प्रणेताओं में एक पॉल डिराक ने इन कणों को बोसॉन नाम से नवाज़ा। इस प्रकार जैसे फोटोन विद्युत् चुम्बकीय बल का संवाहक बोसॉन है वैसे ही ग्लूऑन प्रबल बल की अदृश्य डोर का निर्माण करने वाला बोसॉन है।"

"मगर दादा, इतने महत्वपूर्ण कार्य के लिए बस इतना सा सम्मान, क्या प्रो. बोस को इस कार्य के लिए नोबेल पुरस्कार नहीं दिया जाना चाहिए था?"

"सही कहा तू ने, पर इस प्रश्न का उत्तर न मेरे पास है न तेरे पास, इसका जबाब तो बस नोबेल पुरस्कार देने वाली संस्था ही दे सकती थी। मगर यह भी सत्य है कि उस समय भौतिकी के क्षेत्र में एक नया तूफ़ान उठ रहा था जिसने पुराने क्लासिकी भौतिकी की जड़ें हिला दी थी, क्वांटम भौतिकी दस्तक दे रही थी। महान कवि दिनकर के शब्दों में मानो कह रही हो: सिंहासन खाली करो कि क्वांटम भौतिकी आ रही है। लेकिन यह मत भूल, नोबेल पुरस्कार प्रत्येक वर्ष मिलेगा पर उनको दिया सम्मान तब तक रहेगा जब तक यह कायनात।"

"क्या बात कही आप ने दादा, आपको सलाम है। लेकिन दादा अभी तो और भी कुछ बाकी है तुम्हारे कहने के लिए और हमारे जानने के लिए।"

"हाँ रे, हरी अनन्त हरी कथा अनंता; परमाणु, विशेष रूप से नाभिक, अपने में इतना रहस्य समेटे हुए है कि इसकी कहानी यहीं समाप्त नहीं होती। तुम सबों को जानकर आश्चर्य होगा कि नाभिक की इस सूक्ष्म दुनियाँ में एक और मौलिक बल उपस्थित है जिसे दुर्बल बल, अथवा दुर्बल नाभकीय बल कहते हैं। इस बल का परास (प्रभाव-क्षेत्र) प्रबल बल के परास के मात्र सौवें भाग के तुल्य होता है, और इसकी डोर तैयार करने वाले बोसॉन भी ग्लूऑन से भिन्न हैं। ये हैं W (W+, W-) तथा Z(Z0) बोसॉन जो आश्चर्यजनक रूप से भारी होते हैं; इनका द्रव्यमान प्रोटान के द्रव्यमान का लगभग 100 गुना होता है, मगर आकार बहुत ही छोटा। इनमें W-बोसॉन के दो प्रकार होते हैं जिन पर परस्पर विपरीत किस्म के आवेश होते है, पर Z-बोसॉन आवेश रहित होता है। इस तरह कह सकते हैं : नाभिक के भीतर जब मौलिक कणों के बीच ग्लूऑन का विनिमय होता है तो बंधन प्रबल बल के माध्यम से होता है, मगर W या Z बोसॉन का विनिमय दुर्बल बल को उत्पन्न करता है। W तथा Z बोसॉन का अत्यंत भारी होना ही इस बल के परास को काफी छोटा बना देता है। याद कर बच्चों के बीच गेंद फेंकते और लपकते समय क्या कहा था मैंने।"

"दादा, अब सर चक्कर खा रहा है, प्लीज आगे की कहानी संक्षेप में, प्लीज।"

"बेटे मैं विस्तार में बताऊँ तो बातें सर के ऊपर से निकल जाएगी, लेकिन तुम सबों ने ही कहा था आ बैल मुझे मार; तो अब भुगतना तो पड़ेगा ही। तो इतना समझ ले नाभिक के अन्दर अवस्थित ये सारे मौलिक कण, जिन्हें भौतिकी की भाषा में अवपरमाण्विक (sub-atomic) कण कहते हैं, अलग-अलग परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के बोसॉन का आदान-प्रदान कर सकते हैं। ऐसी ही एक नाभिकीय प्रतिक्रिया है रेडियो सक्रियता (Radioactivity), जिसमें अवपरमाण्विक कणों में परिवर्तन का कारण बनता है दुर्बल बल। जब नाभिक में बंधे अपेक्षाकृत स्थाई न्यूट्रॉन दुर्बल बल के प्रभाव में टूट कर रेडियो सक्रियता के द्वारा बीटा कणों को जन्म देते हैं तो उसे बीटा-क्षय के नाम से जाना जाता है। स्पष्ट है, दुर्बल बल तभी प्रभावी होगा जब एकीकृत कणों के बीच की दूरी काफी कम होगी और यह नाभिक के भीतर ही संभव है। ऐसी परिस्थिति सूर्य के केंद्र में भी उत्पन्न होती है, जहाँ द्रव्य बड़े संघनित और अत्यंत उच्च तापीय अवस्था में रहते हैं। सूर्य के गर्भ में दो प्रोटान दुर्बल बल के द्वारा एक एकीकृत-कण ड्यूट्रान और पुनः हीलियम को जन्म देते हैं तथा साथ में बहुत ज्यादा परिमाण में ऊर्जा भी मुक्त करते हैं। इस क्रिया को नाभिकीय संलयन के नाम से पुकारा जाता है, और यही सूर्य को एक सतत उर्जा-श्रोत बनाये रखता है। पृथ्वी पर ऐसी ही प्रतिक्रिया हाइड्रोजन बम जैसे संघारक को जन्म देती है।"

आफ़ताब, जो सबसे ध्यान पूर्वक दादा की बातों को सुन रहा था, ने उनके द्वारा बताए गए तथ्यों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी की,

"तो दादा आपकी बातों से स्पष्ट है कि एक अति सूक्ष्म रचना परमाणु में ये तीनो मौलिक बल अर्थात, विद्युत्-चुम्बकीय बल, प्रबल बल और दुर्बल नाभकीय बल, एक साथ उपस्थित हैं। इनमे प्रथम बल नाभिक और इलेक्ट्रान के बीच कार्यरत है और इसका कारक बोसॉन है फोटोन। अन्य दो बल - प्रबल बल और दुर्बल नाभकीय बल - नाभिक के अन्दर उपस्थित हैं और ये दोनों वहां उपस्थित अवपरमाण्विक मौलिक कणों को बांध कर रखते हैं। जब बंधन ग्लूऑन के सहयोग से होता है तो प्रबल बल कार्यरत रहता है, और यदि W- एवं Z- बोसॉन बंधन तैयार करें तो वहाँ दुर्बल नाभकीय बल की उपस्थिति होती है।"

"देख, कितना तेज लड़का है यह, कैसे अब तक बताई गयी बातों का सार इसने अपने शब्दों में व्यक्त कर दिया। मेरा मतलब यह है कि तू सब अच्छा है, जहीन है, पर विषय वस्तु पर ध्यान देना किसी एक को बाकि सबों से अलग कर देती है। तुम सबों को इस बात से कुछ सीखना चाहिए।"

अविनाश, सबसे शांत बच्चा (उसे बच्चा कहो तो चिढ़ जाता, पर था वह सबों से छोटा) झट बोल उठा,

"दादा, हम तो उतने ब्रेनी (दिमाग वाले) हैं नहीं, पर अब जल्दी से शेष बची बातें भी समझा दो, गुरुत्व बल की बात तो शुरू की थी तुम ने पर वह अधूरी ही रह गयी थी।"

"सही है, इसके पश्चात् हमें चौथे मौलिक बल गुरुत्व बल की बात करनी चाहिए, जिस पर हमारे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का अस्तित्व टिका है। यहीं पहुँच कर उस पुरानी फिल्म महल के गाने का भेद खुलता है। यह बल द्रव्यमान (या उर्जा) युक्त सभी पिंडों के बीच लगता आकर्षण है जिसने सभी आकाशीय पिंडों को आपस में और हमें पृथ्वी से, बाँधे रखा है। अब एक सामान्य मनुष्य तो पूछेगा ही - इस बंधन की अदृश्य डोर किधर है? तो इन विशाल पिंडों के बीच भी एक शून्य द्रव्यमान तथा शून्य आवेश वाले मौलिक कण

एक दृश्य डोर का निर्माण करते हैं; ये बोसॉन भौतिकी की भाषा में ग्रैविटोन (Graviton) के नाम से जाने जाते हैं। यह नाम गुरुत्व बल के अंग्रेजी नाम gravity से बना है। इस तरह विशाल आकाशीय पिंडों के बीच ग्रैविटोन का सतत विनिमय ही गुरुत्व (gravity) को जन्म देता है। इस बल का परास अनंत तक होता है, पर इसका परिमाण भी दूरी बढ़ने के साथ बड़ी तेजी से घटता है। यह बल तभी महसूस होता है जब दोनों पिंडों का या कम से कम एक पिंड का द्रव्यमान बहुत ही ज्यादा हो; इसके क्रमशः उदाहरण हैं सूर्य-पृथ्वी एवं पृथ्वी-मनुष्य के बीच के बंधन। हमारी जिंदगी को सीधे प्रभावित करने वाले इस बल के बोसॉन, अर्थात ग्रैविटोन की उपस्थिति का संसूचन (detection) अभी तक संभव नहीं हो पाया है। फिर भी इनके संभावित गुणों की जानकारी सैद्धांतिक आधार पर ज्ञात है, ये बड़े स्थायी कण होते हैं, इन पर शून्य आवेश होता है और इनका व्यवहार भी अन्य बोसॉन की तरह ही होता है; भौतिकी की भाषा में इसे बोस-आइंस्टीन सांख्यिकी का अनुपालन करना कहते हैं। दादा ने अविनाश की ओर मुखातिब होते हुए कहा, चल अब तू मेरी कही बातों को संक्षेप में बता।"

"दादा, आप ने चार मौलिक बलों की बात की: विद्युत्-चुम्बकीय बल, प्रबल बल, दुर्बल बल और गुरुत्व बल; साथ ही यह भी समझाया कि इनकी अदृश्य डोर क्रमशः फोटोन, ग्लूऑन, W- एवं Z- बोसॉन तथा ग्रैविटोन से बनती है; इनमें गुरुत्व बल का कारक ग्रैविटोन अभी हमारी पकड़ से परे है। मगर क्वांटम भौतिकी ने इसकी उपस्थिति को अकाट्य रूप से प्रमाणित कर दिया है, इन्तजार है केवल उसके प्रायोगिक सत्यापन का।"

"बहुत सुन्दर; अब इस जगह इन बलों से जुड़े एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य को भी जानना आवश्यक प्रतीत होता है; वह है दो महत्वपूर्ण बलों के एकीकरण का सफल प्रयास। उच्च-ऊर्जा में होते शोध और उनसे मिलती नयी जानकारियों ने विद्युत्-चुम्बकीय बल तथा दुर्बल बल के एकीकरण का पथ प्रशस्त किया। वर्ष 1979 में पाकिस्तानी मूल के भौतिकीविद प्रो. अब्दुस सलाम ने दो अन्य वैज्ञानिकों शेल्डन ग्लाशो एवं स्टीवन वाइनबर्ग के साथ मिलकर इन दो बलों के एकीकरण की सैद्धांतिक व्याख्या की; इसे वाइनबर्ग-सलाम सिद्धांत के नाम से जाना जाता है। इस कार्य के लिए तीनों वैज्ञानिकों को संयुक्त रूप से नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया और इस एकीकृत बल को विद्युत्-दुर्बल बल (Electroweak Force) के नाम से पुकारा गया। इन लोगों ने यह सिद्ध कर दिया कि सामान्य ऊर्जा पर ये दोनों बल अपना अलग-अलग अस्तित्व बनाये रखते हैं मगर अत्यंत उच्च ताप पर इनका एकीकरण हो जाता है। इतना उच्च ताप अभी तक प्रयोगशाला में उत्पन्न नहीं हो सका है, पर बिग बैंग (Big Bang), जिसने ब्रह्माण्ड को जन्म दिया, के समय ऐसे ताप पैदा हुए थे। अल्बर्ट आइंस्टीन ने तो बलों के महा-एकीकरण (Grand Unification) की बात की थी और अपनी जिन्दगी के अंतिम वर्षों में वे इसी प्रयास में लगे भी रहे, लेकिन सफलता नहीं मिली। मगर इन दो बलों का एकीकरण उस दिशा में कुछ उम्मीद अवश्य जगाता है।"

"दादा, तुमने बताया कि प्रो. सलाम पाकिस्तानी मूल के थे, पर मैंने कहीं पढ़ा था कि वे ब्रिटिश नागरिक थे?"

"सही कहा तुमने, लेकिन प्रो. अब्दुस सलाम हमारे पड़ोस के मुल्क पाकिस्तान के ही मूल निवासी थे, ब्रिटिश नागरिकता उन्होंने बहुत बाद में स्वीकार की थी। उनकी उपलब्धि कुछ ऐसी है जिस पर पूरे भौतिकी जगत को नाज होना चाहिए, पर अफ़सोस, जहाँ वे पैदा हुए और जो मुल्क सदैव उनके दिल में बसा रहा उसी देश में उन्हें वह सम्मान नहीं मिला जिसके वे हक़दार थे। उनकी मौत के बाद उनका मृत शरीर पाकिस्तान लाया गया, जैसा वह चाहते थे; और दफ़नाने के पश्चात उनकी इच्छानुसार उनके समाधि-प्रस्तर (Tombstone) पर लिखा गया प्रथम मुस्लिम नोबेल विजेता (First Muslim Nobel Laureate), पर पाकिस्तान सरकार ने उससे मुस्लिम शब्द ही हटा दिया क्योंकि अहमदिया समुदाय से आने के कारण वहां के संविधान के अनुसार वे मुस्लिम थे ही नहीं। प्रो. सलाम ने इटली के ट्रिएस्ट (Triest) शहर में सैद्धांतिक भौतिकी में शोध हेतु एक संस्था बनाई जो अब अब्दुस सलाम सैद्धांतिक भौतिकी अंतर्राष्ट्रीय संस्था के नाम से जानी जाती है; इस संस्था को बनाने में इटली सरकार के अतिरिक्त यूनेस्को तथा अंतर्राष्ट्रीय परमाणु उर्जा संस्थान का महत्वपूर्ण योगदान रहा। इस शोध-संस्थान के माध्यम से उन्होंने विकाशशील देशों में भौतिकी के क्षेत्र में उच्च स्तरीय शोध को बढ़ावा देने का विशेष प्रयास किया। इस संस्थान के वे आजीवन निदेशक बने रहे।"

"बस दादा बस, हम तुम्हारा धन्यवाद ज्ञापन भी नहीं कर सकते, क्योंकि तुम ने जो किया वह कोई नहीं करेगा। बस यही गुजारिश है कि हमें आगे भी इसी तरह की बातों से रास्ता दिखाते रहना.; असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, अब जो भी कहा गया हो तुम जानो।" ■

गौतम सिद्धार्थ
जन्म 1956, बलरामपुर, उ.प्र.। विधि स्नातक, भारतेंदु नाट्य अकादमी से डिप्लोमा। 35 साल से मुंबई में। निर्देशन और लेखन। स्क्रीन प्ले में दक्षता। स्वभाव से यायावर। तकरीबन समस्त भारत का भ्रमण।
सम्पर्क : gautamsiddhartha@gmail.com

चर्चा

बायो-पिक, एक केमिस्ट्री

हिंदी फिल्मी संसार की कुछ "अजब सिंह की गज़ब दास्तान" जैसी स्थिति है। ना उगलते बनती है और ना निगलते बनती है। और ये छछूंदर वो है जिसे "बायो पिक" कहते हैं। आजकल लोगों की जीवनी पर, फिल्म बनाने का फैशन-सा चल पड़ा है। मैं इसे फैशन ही लिखूंगा, क्योंकि हर प्रोड्युसर वही फिल्म बनाता है, जिससे जल्दी से जल्दी पैसा कमाया जा सके। अब ये उन्हें कौन बताता है कि "बायो पिक" पैसे बनाने की मशीन है? ये मुझे आज तक नहीं पता चला। अगर हम पिछले कुछ सालों में बायो पिक पर बनी फिल्मों को देखें, तो पायेंगे कि सिर्फ़ कुछ फिल्मों को छोड़कर, बाक़ी कई फिल्में फ्लॉप हुई हैं। लेकिन हम भी वैसे ही है और घिसी पिटी लीक पर चलते हैं।

पहले जब किसी के जीवन चरित्र को लेकर कोई फिल्म बनती थी तो ये गौर किया जाता था कि उस चरित्र की सारी अच्छाईयां दिखाई जाये और उस चरित्र को एक उदाहरण बनाकर पेश किया जाये। इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण है रिचर्ड एटनब्रॉ की "गांधी"। और 1966 में आई अभि भट्टाचार्य अभिनीत फिल्म "नेताजी सुभाष चंद्र बोस"। वैसे मनोज कुमार की "शहीद" भी 1965 में ही आई थी जो भगत सिंह पर बनी। या फिर ढेर सारे संतों पर बनी फिल्में। ऐसी बहुत-सी जीवनी फिल्में हैं, जो फिल्मों के श्वेत-श्याम के समय से बनती चली आ रही है और दर्शकों ने उन बायो पिक को सराहा भी है। इसकी एक वजह ये भी रही है कि उन्होंने विवादित विषय को फिल्म में नहीं छुआ।

फिर एक फिल्म आई "बेंडेट क्वीन"। जिसमें एक डकैत की मजबूरी को दिखाकर समाज में खूनखराबे को एक मक़सद दिया गया। इस तरह की फिल्मों ने खलनायक को नायक बनाने की कोशिश शुरू की। फिर तो उसकी अगली कड़ी थी "वीरप्पन"। इसके अलावा और भी बहुत। यहाँ तक तो ठीक था कि फिल्में हर तरह के चरित्रों को छूने की कोशिश करती हैं, तो ये भी एक विषय है।

लेकिन अब संजय लीला भंसाली जैसे लोगों ने इस बात के उलट, चरित्रों के नामों को भुनाना शुरू किया है। और उन्होंने इसी बहाने किसी दूसरे चरित्र को उजागर करना शुरू किया है। यानी फिल्म के नाम को किसी खास चरित्र पर रखकर, जिससे जनता का ध्यान अपनी ओर खींचा जाये, फिर किसी दूसरे ही चरित्र को महत्व देकर, लोगों में विवाद पैदा किया जाये। जैसे "पद्मावत"। अगर ये फिल्म खिलजी के नाम से बनती, तो क्या ऐतराज़ था? लेकिन विवाद उत्पन्न करने के लिये जीवनियाँ सबसे आसान विषय हैं। जिसका फायदा संजय भरपूर उठाते हैं।

बुरे चरित्रों को लेकर, अब भी फिल्में तो बनती ही हैं। लेकिन ऐसा नहीं है कि सब यही कर रहे हैं। जैसे "भाग मिल्खा भाग" या "एमएस धोनी" या बहुत-सी और जीवनी फिल्में हैं, जो किसी विशेष चरित्र को ध्यान में रखकर बनाई गई हैं, और सिर्फ़ उसी चरित्र पर फोकस किया गया है, जिसके नाम पर फिल्म बनाई जा रही हैं। और उसी चरित्र की अच्छाईयों या गलतियों को फिल्म का हिस्सा बनाया

गया। एक फिल्म का और ज़िक्र करुंगा, वो फिल्म थी, "चक दे इंडिया"। ये मीर राजन नेगी के चरित्र को आधार बना कर बनाई गई थी। उनके साथ भी ज़िंदगी में कुछ ऐसा ही गुज़रा था। जबकि फिल्म में ये किरदार एक मुस्लिम था, जिसका नाम कबीर खान था।

"सरदार", "मांझी" और ऐसी ही एक बायोपिक फिल्म है "संजू"। इस फिल्म में संजय दत्त के जीवन में घटी बहुत सी घटनाओं को पिरोया गया है। अब वो अच्छी हैं या बुरी, ये दर्शक तय करेगा। लेकिन इसी तरह के प्रसिद्ध लोगों की जीवनियों पर और लोग भी फिल्म बना रहे हैं। उनका मानना है कि अगर किसी मशहूर हस्ती पर फिल्म बनाई जाये तो आप आधी जंग जीत लेते हैं। इसकी वजह ये है कि लोग उस हस्ती की बहुत-सी बात जानते हैं और उनके साथ घटी घटनाओं को आंख के सामने साकार होते हुये देखना चाहते हैं। लेकिन फिल्मकार ये भूल जाते हैं कि दर्शक को सिर्फ़ नाम से बहलाया नहीं जा सकता। क्योंकि दर्शक फिल्म तभी ही देखकर सराहता है, जब फिल्म में कोई ड्रामा हो, यानी कि उस चरित्र के साथ कुछ ऐसा घटा हो जो दर्शक नहीं जानता हो कि उस घटना से वो वास्तविक चरित्र कैसे निकला। मतलब साफ़ है कि दर्शक को तभी मज़ा आता है जब कोई चरित्र अपनी अनसुलझी परेशानियों से बाहर निकलने की जद्दोजहद करता है। ऐसा "सरबजीत" फिल्म में देखने को मिला था। और उस फिल्म को दर्शकों की सराहना भी मिली थी।

इस तकनीक का फायदा एकता कपूर ने भी उठाया, वो फिल्म थी "डर्टी पिक्चर"। ये फिल्म साऊथ की एक अभिनेत्री "सिल्क स्मिता" की जीवनी पर है। जो फिल्मों में सेक्स सिम्बल मानी जाती थी। फिल्म जब बनने की बात आई तो फिल्म आलोचकों का मानना था कि एकता कपूर एक "सी ग्रेड" फिल्म क्यों बनाना चाहती है? लेकिन उसमें कई बातें ऐसी थी जो हमें चौंकाती हैं। जैसे विद्या बालन जैसी संजीदा अभिनेत्री ने ऐसा रोल स्वीकार क्यों किया? चलो माना कि इमरान हाशमी ऐसी फिल्में करते रहते हैं, पर नसीरुद्दीन शाह ने इस फिल्म के लिये हामी क्यों भरी? यानी कि इस फिल्म में ऐसा कुछ है जो कहानी के तौर पर बहुत ड्रामाई है। फिल्म हिट रही, क्योंकि उस फिल्म की कहानी में चरित्र की भरपूर जद्दोजहद थी। एक सी ग्रेड के चरित्र पर ए ग्रेड की फिल्म बनी।

इसी बीच एक और फिल्म आई "पान सिंह तोमर"। तिग्मांशु ने इस एक खिलाड़ी की मजबूर बदलती हुई ज़िंदगी को विषय बनाया, लेकिन फिर भी उस चरित्र के धावक होने को फिल्म में उजागर किया, चाहे वो डकैत ही क्यों ना रहा हो। ये कहानी का कमाल था जो फिल्म को हिट करा ले गया।

जीवनी फिल्में हम लोगों में चाहे जितना राष्ट्रप्रेम, देशभक्ति, व्यक्ति प्रेम, या खेल प्रेम भर दें, फिर भी, हम वही करते हैं जो हमें करना होता है। बायो पिक से कोई असर नहीं पड़ता, बस हम थोड़ी देर के लिये खुश हो लेते है।

बस फिर क्या था, फिल्मवालों की भेड़-चाल शुरू हो गई। "चक दे इंडिया" और "एम एस धोनी" ने "भाग मिल्खा भाग" की तरह खिलाड़ियों पर फिल्म बनाने की दौड़ लगवा दी। फिर आई "मेरी कॉम" और उसको नेशनल एवार्ड भी मिल गया। अब "सान्या नेहवाल", "अभिनव ब्रिंदा" और "पी वी सिंधु" जैसे खिलाड़ियों पर फिल्म बनानी शुरु हो गईं। सान्या वाली फिल्म का हाल तो आपको मालूम ही है। अब देखते हैं कि बाकियों का क्या हाल होता है।

खिलाड़ियों से हटकर अगर हम कुछ और मशहूर हस्तियों की तरफ़ देखे थें, तो "द एक्सीडेंटल प्राईम मिनिस्टर", जो फिल्म मनमोहन सिंह से सीधे जुड़ी थी। और अनुपम खेर ने इस किरदार को बहुत अच्छा निभाया भी था। फिल्म चर्चित तो बहुत हुई पर बॉक्स ऑफिस पर वो कितना चली ये कोई नहीं जानता। वैसे ही "पीएम नरेंद्र मोदी" भी है। 'तान्हा जी", "छपाक" और "ठाकरे" का ज़िक्र अभी नहीं कर रहा हूं, क्योंकि ये चर्चित चाहे जितनी भी रही हों पर बॉक्स ऑफिस पर ये उतना नहीं कमा पाईं, जितना इन फिल्मों से उम्मीद की जा रही थी।

मैं बार-बार कमाई को अपनी कसौटी इसलिये बना रहा हूं, क्योंकि फिल्में बनाने का उद्देश्य पैसा कमाना होता है। ये काम कोई धर्म खाते के लिये नहीं करता। तभी इतना पैसा लगाया जाता है कि फायदा हो।

अब एक फिल्म है "मुगल"। ये मुगलिया सल्तनत की कहानी नहीं है, बल्कि ये कैसेट किंग गुलशन कुमार पर बन

रही है, जिसमें अक्षय कुमार, गुलशन कुमार बने हैं। इस फिल्म को सुभाष कपूर बनाने जा रहे हैं, जिन्होंने "जॉली एलएलबी 2" बनाई थी। इतना तो है कि ये फिल्म दिखने में वास्तविक तो बहुत लगेगी, लेकिन क्या सच्चाई के नज़दीक भी होगी? ये नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस फिल्म को टी सीरीज ही बनाने वाली है। क्या वो नदीम के प्रकरण को इसमें डालेंगे? ये भी नहीं कहा जा सकता।

अब एक फिल्म का ज़िक्र मैं करना चाहूंगा, उसका नाम है "सुपर 30"। ये आनंद कुमार नाम के एक साधारण से आदमी की कहानी है। जिन्होंने अपनी गरीबी के दिनों में, पटना में गणित पढ़ाने के लिये एक कोचिंग क्लास खोला, जिसका नाम है "रामानुज"। आनंद कुमार के इस कोचिंग क्लास में विद्यार्थियों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती गई। और एक साल उन्होंने, अपने ही कोचिंग से 30 गरीब विद्यार्थियों को चुना और उन्हें आयआयटी जैसे इम्तहान के लिये मुफ्त में तैयार किया, जिसमें उनके तीसों विद्यार्थी सफल हुए। ये सिलसिला तब से अब तक चला आ रहा है। ये एक व्यक्ति के संघर्ष की कहानी है, एक आत्म सम्मान बनाये रखने की कहानी है, अपने सपने पूरे करने की कहानी है। इस कहानी को भव्य तरह से बनाने का ज़िम्मा उठाया था, तीन बड़ी कम्पनियों ने। जिसे विकास बहल ने डायरेक्ट किया और मुख्य भूमिका में हैं, ऋतिक रोशन। इसमें सिर्फ़ दर्द ही नहीं, बल्कि ड्रामा भी है, जिसके लिये पंकज त्रिपाठी और आदित्य प्रसाद को जोड़ा गया है और साथ में है एक अदद हिरोईन, मृणाल ठाकुर। यानी ये एक अच्छी खासी कॉमर्शियल फिल्म है। भई, पैसा भी तो कमाना है।

एक और फिल्म है "मणिकर्णिका", जो रानी लक्ष्मी बाई के जीवन पर बनी है। फिल्म को भरपूर पैसा लगा कर बनाया गया और उसे कई विवादों का सहारा भी मिला। यहाँ तक कि कंगना ने इसे निर्देशित भी कर दिया, क्योंकि इस फिल्म के वास्तविक निर्देशक राधा किशन ने ये फिल्म बीच में छोड़ दी थी। वजह थे, राधा किशन और कंगना के बीच होने वाले झगड़े। और अब आलम ये है कि कंगना खुद एक फिल्म निर्देशित करने जा रही हैं।

एक बायो पिक का नाम है "दिद्दा", जो कश्मीर की "वॉरियर क्वीन" कहलाई जाती हैं। एक अन्य है अंतरिक्ष यात्री राकेश शर्मा के जीवन पर। ये वो इंसान हैं, जो अंतरिक्ष में जाने वाले पहले भारतीय हैं। इस फिल्म को तीन लोग मिल कर बना रहे हैं। पहले हैं, सिद्धार्थ रॉय कपूर, दूसरे हैं रॉनी स्क्रूवाला और तीसरे हैं आमिर खान। आमिर खान इसमें राकेश शर्मा का किरदार भी करने वाले हैं। इस फिल्म का नाम अभी नहीं रखा गया है, फिर भी लोगों का अंदाज़ा है कि इसका नाम शायद "सारे जहाँ से अच्छा" रखा जायेगा। क्योंकि अंतरिक्ष में जब इंदिरा गांधी ने राकेश शर्मा से पूछा था कि वहाँ से भारत कैसा लग रहा है? तो उन्होंने यही जवाब दिया था। अभी ये फिल्म बनना शुरू नहीं हुई है, लेकिन विषय बताता है कि, इस फिल्म में भरपूर ग्राफिक्स होंगे।

आर. माधवन की निर्देशित फिल्म "रॉकेट्री" के ज़िक्र के बिना ये लेख अधूरा रहेगा। इस फिल्म की कहानी एक वैज्ञानिक से जुड़ी है, जिनका नाम है "नम्बी नारायनन"। वो इसरो में काम करते थे, जब 1994 में उन पर इल्ज़ाम लगा दिया गया कि उन्होंने देशद्रोह किया है। लोगों का मानना है कि ये इल्ज़ाम एक राजनैतिक दुश्मनी का नतीजा था। इसके लिये उन्हें बहुत प्रताड़नायें झेलनी पड़ी। आखिरकार सुप्रीम कोर्ट ने उन्हें बरी कर दिया। फिल्म में वो सब था, जो अगर स्क्रीन-प्ले में ना हो तो, वो एक अच्छी फिल्म ना बन पायेगी।

बात सिर्फ़ इतनी-सी है कि चरित्र चाहे वास्तविक हो या काल्पनिक, उसकी कहानी में अगर मुसीबतों से जूझने की हद्द पार कर देने की जद्दोजहद नहीं होती और उत्सुकता बनाये रखने के लिये घटनाओं को ढंग से पिरोया नहीं गया है, तो वो फिल्म, अच्छी फिल्म की श्रेणी में नहीं आती। तो फिर बायो पिक का मुलम्मा क्यों चढ़ाया जाये? लेकिन हम बुद्धिजीवी पता नहीं क्यों हर विषय को विभागों में बांट देते हैं। जबकि कहानी तो कहानी होती है, उसकी अपनी विशेषतायें होती हैं। इस लेख में ऐसा नहीं है कि मैं "दंगल" को भूल गया हूं। क्योंकि यही वो फिल्म थी जिसने फिल्मकारों में बायो पिक का कीड़ा पैदा कर दिया।

ऐसी बहुत सी फिल्में हैं, जिनका ज़िक्र होना बाक़ी है। आखिर में, मैं एक बात कहना चाहूंगा कि ये जीवनी फिल्में हम लोगों में चाहे जितना राष्ट्रप्रेम, देशभक्ति, व्यक्ति प्रेम, या खेल प्रेम भर दें, फिर भी, हम वही करते हैं जो हमें करना होता है। बायो पिक से कोई असर नहीं पड़ता, बस हम थोड़ी देर के लिये खुश हो लेते है। आप सोच रहे होंगे कि ये देशभक्ति और राष्ट्र प्रेम में क्या फर्क़ है, जो मैंने दो अलग अलग शब्दों में लिखा है। तो भई, इसका अंतर मैं तो नहीं जानता, पर हमारे देश में हिंदी पत्रकारिता के एक मूर्धन्य व्यक्ति हैं, विनोद दुआ जी। वो इसका अंतर जानने का दावा करते हैं। उनके हिसाब से इनमें से कोई एक शब्द उग्रवाद से जुड़ता है, शायद... ■

मुरलीधर वैष्णव

9 फरवरी 1946 को जोधपुर में जन्म। हिंदी और अंग्रेजी साहित्य में स्नातक तथा विधि स्नातक। जिला एवं सेशन न्यायाधीश से सेवानिवृत्त के बाद न्यायाधीश जिला उपभोक्ता मंच से न्यायाधीश के तौर पर जुड़े रहे। कहानी संग्रह "पीड़ा के स्वर", काव्य संग्रह "हैलो बसंत", लघुकथा संग्रह "अक्षय तूणीर" प्रकाशित। सृजनात्मक साहित्य पुरस्कार, वीर दुर्गादास राठौड़ साहित्य सम्मान, समित्रानंदन पंत बाल साहित्य सम्मान तथा विशिष्ट साहित्यकार सम्मान से पुरस्कृत। सम्प्रति - राजस्थान न्यायिक अकादमी, जोधपुर में विधि प्रोफेसर। सम्पर्क - mdvaishnav.1945@gmail.com

निजताधिकार के प्रणेता भगवान गणेश

गणपति हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के अति विशिष्ट देव हैं। वे केवल रिद्धि-सिद्धि, शुभ-लाभ और बुद्धि के स्वामी ही नहीं अपितु अतुल बलशाली, विघ्न विनाशक, विघ्नेश्वर, वाणी-संयमी, नारी-गरिमा, नारी शक्ति और उसकी निजता (प्राइवेसी) व स्वतंत्रताधिकार के दिव्य प्रतीक हैं।

कथा है कि कैलाश पर्वत पर स्थित अपने निवास पर देवी पार्वती स्नान कर रही थीं। बाहर पहरेदारी पर तैनात नंदी को उन्होंने निर्देश दे रखा था कि फिलहाल किसी को अन्दर न आने दें। वह गुफा के अंदर बने पोखर में स्नान करने से पूर्व कुछ समय एकांत चिंतन में बिताना चाहती थीं। उसमें उसे किसी प्रकार का व्यवधान पसंद नहीं था।

इस बीच भगवान शिव आ गये। गुफा में जाने लगे तो नंदी ने उन्हें रोकने की कोशिश की। लेकिन भगवान शिव नंदी को परे धकेलते हुए अन्दर चले गये। देवी पार्वती ने भगवान शिव का इस तरह आना देखा। उन्हें अपनी इस निजता में व्यवधान अच्छा नहीं लगा। लेकिन आखिर वे उनके पति थे। संपूर्ण ब्रह्मांड की शक्ति-स्वरूपा पार्वती को अपने इस निजताधिकार व्यवधान की बात खटकती रही। अपार शक्ति एवं सकल ब्रह्मांडीय चेतना को अपने भीतर समेटे देवी पार्वती ने भविष्य में किसी प्रकार के ऐसे विघ्न को रोकने में सक्षम एक दिव्य-पुत्र की कल्पना की। फिर एक दिन जब उनकी सखी उनके शरीर पर उबटन मल रही थी और जो उबटन देवी पार्वती की दैहिक-मानसिक-चेतना का स्पर्श पाकर नीचे गिर रहा था उसी से उन्होंने एक अति सुन्दर एवं शक्तिशाली पुत्र की उत्पति की। पुत्र ने किशोरावस्था प्राप्त कर ली। उस दौरान महादेव समाधिस्थ थे। उन्हें उस दिव्य पुत्रोत्पत्ति का ज्ञान नहीं था।

कुछ अर्से बाद जब वे पुनः घर के भीतर नहा रही थीं तब अपने उस बालक को बाहर पहरेदारी करने को कहा और निर्देश दिया कि किसी को भीतर नहीं आने दें। वह एकांत चाहती है। अपनी निजता में कोई दखल नहीं चाहती।

उस दिन महादेव कुछ देवताओं के साथ वहां आए। भगवान शिव जब अपनी गुफा के अन्दर आने लगे तो उस बालक ने उन्हें रोक दिया। वह पहचानता भी नहीं था कि शिव उसके पिता हैं। भगवान भूतनाथ (शिव) कम विनोदी नहीं हैं। उन्होंने इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम आदि जो उस समय उनके साथ थे, को उस बालक को द्वार से हटाने की आज्ञा दी। लेकिन वह बालक आखिर जगदम्बा महाशक्ति का मानस पुत्र था। उसके सामने कोई नहीं टिक सका। इस पर भगवान शिव ने क्रोधवश अपने त्रिशूल से उसका सिर काट दिया। जगदम्बा पार्वती को अपने पुत्र-वध की सूचना मिली तो वह क्रोध से कांपने लगी। उन्होंने प्रलयंकारी शक्तियों का आह्वान किया और सम्पूर्ण ब्रह्मांड हिलने लगा। देवताओं ने उन्हें प्रसन्न करने के लिए खूब स्तुति की। आखिर करुणामयी देवी पार्वती इस शर्त पर अपनी उन शक्तियों को समेटने के लिए राजी हुई कि उनके पुत्र को जीवित किया जाए और उसे प्रथम पूज्य देव मानते हुए सभी देव अपनी-अपनी दिव्य शक्तियां उसमें संचारित करें। देवताओं ने जाकर भगवान शिव को सारा वृत्तांत सुनाया तो उन्होंने कहा कि किसी नवजात शिशु हाथी का मस्तक उस

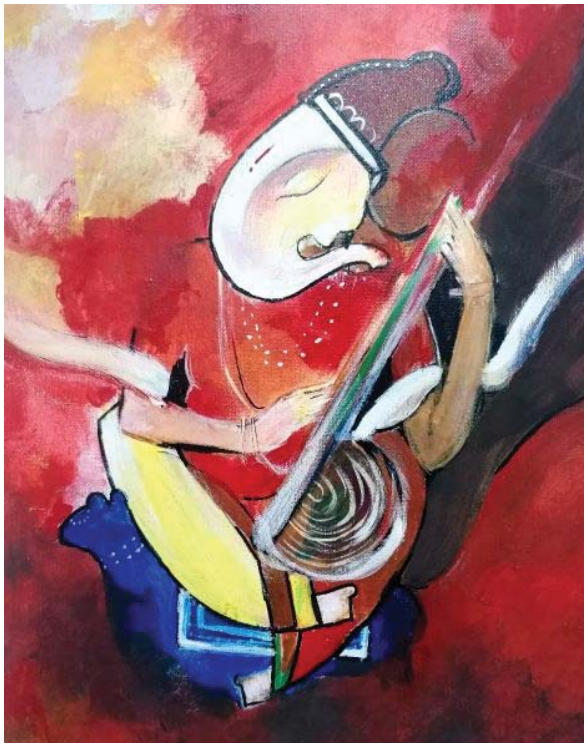

संसार में प्रत्येक पशु-पक्षी जीव की अपनी सार्थकता और गरिमा हैं। इसी को प्रतिपादित करते हुए चूहे जैसे जीव को गणेश जी ने अपना वाहन बनाया व गज-सिर-धारण किया। वे मेधा-शक्ति के भी देव हैं।

बालक की धड़ पर लगाना होगा। आनन-फानन में देवताओं को गजराज का नवजात शिशु मिला। वह एक शापित हस्ती शिशु था जिसने अपने शाप से मुक्ति के लिए स्वयं को उस बलिदान के लिए प्रस्तुत किया। उसी का सिर काट कर उस बालक के धड़ पर लगाया गया। जिससे वह बालक गजानन कहलाए। यह पुराणकाल का दूसरा सिर प्रत्यारोपण शल्य क्रिया का प्रसंग था। पहला वह था जब शिव ने अपनी पत्नी सती को यज्ञाग्नि में जलकर भस्म होने को बाध्य करने वाले अपने ससुर का सिर काट दिया। फिर ब्रह्मा-विष्णु सहित अन्य देवों के भारी अनुनय विनय पर दक्ष के सिर पर बकरे के सिर को प्रत्यारोपण किया गया। इस प्रकार पार्वती के आदेशानुसार शिव सहित सभी देवों ने उस बालक में अपनी दिव्य शक्तियां संचारित की।

आधुनिक संदर्भ को देखें तो भारतीय संविधान में जीवन के मौलिक अधिकार में निजता के अधिकार की भी मौलिक अधिकार के रूप में मान्यता दी गई है। यह ऐतिहासिक निर्णय उच्च न्यायालय के सेवानिवृत न्यायाधीश पुत्ता स्वामी द्वारा आधार कार्ड की अनिवार्यता को निजता हनन के तर्क पर चुनौती देते हुए सर्वोच्च न्यायालय में जो याचिका प्रस्तुत की वहां नौ जजेज् की फुल बैंच ने उक्त याचिका को 2017 में सभी जजेज् ने स्वीकार की। उन्होंने एक स्वर में निजता के अधिकार को संविधान के अनुच्छेद 21 के अंर्तगत 'जीवन के मौलिक अधिकार का ही अभिन्न अंग माना।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि एक पत्नी को अपने पति के विरुद्ध भी अपनी निजता का अधिकार अर्थात 'राइट टू प्राइवेसी इवन अगेंस्ट हर हजबेंड' को पुराणकाल में पहली बार स्थापित करने वाले गणपति ही थे।

भगवान गणेश ने अपने प्राण रहते माता पार्वती के निजताधिकार की रक्षा की। वे तत्काल पुनर्जीवन प्राप्त कर विघ्न-विनाशक प्रथम-पूज्य नित्य-देव गणाध्यक्ष गणपति कहलाए।

अपने बड़े भाई कार्तिकेय के साथ संग्राम में उनका एक दांत टूट गया था। इसलिए श्री गणेश एकदंत भी कहलाए।

भारतीय संस्कृति में शुभकार्य से पूर्व उन्हीं का स्मरण व स्तुति आवश्यक मानी जाती है। आखिर शुभ-लाभ स्वयं उन्हीं के पुत्र जो हैं। उनके कार्यों और गुणों में मनुष्य समाज को अनुकरण करने के लिये अनेक प्रतीक मौजूद हैं। पृथ्वी की परिक्रमा पहले कौन करे इसके लिए उन्होंने अपने माता-पिता (शिव-पार्वती) की परिक्रमा कर यह प्रतियोगिता जीत कर अपने बुद्धि-कौशल का परिचय दिया। वे कम बोलते हैं, ध्यान से सुनते हैं। दूसरों का भला करने में तत्पर रहते हैं। ये गुण हमारे लिए अनुकरणीय हैं। गणेश आशु लिपिकों के परम देव हैं, जिन्होंने वेदव्यास जी से महाभारत का डिक्टेशन लिया था।

संसार में प्रत्येक पशु-पक्षी जीव की अपनी सार्थकता और गरिमा हैं। इसी को प्रतिपादित करते हुए चूहे जैसे जीव को उन्होंने अपना वाहन बनाया व गज-सिर-धारण किया। वे मेधा-शक्ति के भी देव हैं। वेद व्यास से महाभारत का लगातार श्रुतलेख लेकर तथा इस महत्ती कार्य के संपूर्ण होने तक चुप रहकर उन्होंने अपनी मेधा शक्ति के साथ-साथ एकाग्रचित्तता, वाणी संयम और मौन शक्ति का भी परिचय दिया।

गणेश ने ही भगवान परशुराम को परशु-शास्त्र का ज्ञान दिया था। गणपति बप्पा मोरिया का जन्म भाद्र मास शुक्ल पक्ष की चतुर्थी को होने से गणेश-चतुर्थी के रूप में श्रद्धापूर्वक मनाया जाता है। जिस प्रकार शारदीय नवरात्रा में दुर्गा माता का पर्व बंगाल से आरम्भ होकर आज सम्पूर्ण देश में फैल गया उसी प्रकार गणपति बप्पा मोरिया का यह पर्व मुख्यतः महाराष्ट्र से आरम्भ होकर आज देश के हर गली-मोहल्ले में श्रद्धापूर्वक मनाया जाता है। भारत में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में गणेश-चतुर्थी का पर्व हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की अस्मिता व एकता के प्रतीक के रूप में विख्यात है। पार्वती-नंदन गजानन सभी दिव्य गुणों से युक्त मंगलकारी मूर्ति हैं जिनकी उपासना हिन्दुओं के अलावा अन्य धर्म के लोग भी करते हैं।■

भरत शर्मा
31 मार्च 1997 को हरियाणा में जन्म। दिल्ली विश्वविद्यालय से जर्मन साहित्य में स्नातक और जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की तथा यहीं शोधार्थी हैं। कविताएँ पढ़ने में रुचि और ब्लॉग पर कविताएं लिखते हैं। जर्मन साहित्य के हिंदी अनुवाद में संलग्न। सम्पर्क : bharatsharma975@gmail.com

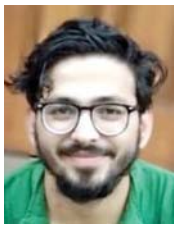

अनुवाद और प्रकाशन की संकरी जगह

हिंदी में जर्मन साहित्य और जर्मन पुस्तक बाज़ार में हिंदी साहित्य का अनुवाद

3-6 मार्च को जर्मन से हिंदी और हिंदी से जर्मन में अनुवादकों के लिए एक ऑनलाइन संगोष्ठी रखी गयी थी। इस सन्दर्भ में नमिता खरे (जरमैनिक और रोमांस अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) और हाइंस वर्नर वेसलर (इंडोलोजी, उप्साला विश्वविद्यालय, स्वीडन) ने अदिति माहेश्वरी (वाणी प्रकाशन, दिल्ली) और क्रिस्टिआन वाइस (द्रौपदी फ़र्लाग (प्रकाशन), हाइडेलबर्ग) के साथ भेंटवार्ता की। इस संवाद में जर्मन और हिंदी प्रकाशन और अनुवाद की समस्याओं और चुनौतियों पर प्रकाश डाला गया। प्रतिभागियों को भी प्रश्न पूछने का मौक़ा मिला। इस भेंटवार्ता का जर्मन अनुवाद "ज़्यूडआज़िएन" पत्रिका के २-२०-२१ के अंक में प्रकाशित हुआ। वार्तालाप का अंग्रेजी लिपीकरण और अंग्रेजी-हिंदी अनुवाद भरत शर्मा ने किया।

नमिता खरे : क्रिस्टिआन वाइस और अदिति महेश्वरी, शुरू करने के लिए इससे अच्छा क्या होगा कि आप दोनों अपने प्रकाशन के बारे में कुछ बताएं।

क्रिस्टिआन वाइस : मेरे प्रकाशन का नाम द्रौपदी फ़र्लाग (प्रकाशन) है और यह 2003 में स्थापित हुआ था। शुरू से ही भारतीय भाषाओं का साहित्य, खासकर हिंदी, बांग्ला और तमिल आदि भाषाओं का साहित्य द्रौपदी प्रकाशन का केंद्र बिंदु रहा है। समय के साथ अन्य दक्षिण एशियाई देशों के साहित्य, जर्मन साहित्य व अफ़्रीकी साहित्य भी हमारी सूची में शामिल हुए, पर जर्मन में अनूदित भारतीय साहित्य ही अभी भी प्रकाशन का केंद्र है। अभी तक हमने 150 किताबें प्रकाशित की हैं जिसमें 21 सीधे हिंदी से जर्मन में अनूदित हैं, 6 तमिल से, 6 बांग्ला से और इसी तरह अन्य भाषाओं से।

अदिति महेश्वरी : मैं वाणी प्रकाशन ग्रुप से जुड़ी हूँ। अपनी स्थापना के समय (1963) से ही वाणी प्रकाशन हिंदी में पुस्तकें प्रकाशित करता आया है। हमने अभी तक 7500 से ज्यादा किताबें प्रकाशित की हैं और जैसे-जैसे हम अपनी 60वीं वर्षगाँठ की तरफ अग्रसर हैं, हम अंग्रेजी के साथ-साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं में अपने पोर्टफोलियो को विविधतापूर्ण बना रहे हैं। अनुवाद की दिशा में भी हम काफी कुछ कर रहे हैं।

(किताब दिखाते हुए) अभी-अभी मार्जन सत्रापिस का फ्रेंच ग्राफिक उपन्यास "पर्सेपोलिस" प्रेस से आया है, जिसका पहली बार सीधे फ्रेंच से हिंदी में अनुवाद हुआ है। और नमिता जी के साथ हमने हेर्टा म्युलर की नोबेल पुरस्कृत "आटेमशाऊकेल" (Atemschaukel) का हिंदी अनुवाद "भूख का व्याकरण" किया है।

नमिता खरे : आप दोनों ने ही कहा कि आप काफी अनुवाद प्रकाशित करते हैं। आप अपने-अपने देशों में अनूदित साहित्य की स्थिति को किस तरह देखते हैं? और आपको क्या लगता है कि भविष्य में अनूदित साहित्य की स्थिति कैसे बेहतर होगी?

क्रिस्टिआन वाइस : साहित्य का अनुवाद करने की जर्मनी में लंबी परंपरा रही है, खासकर अंग्रेजी या फ्रांसीसी साहित्य से अनुवाद की। हालांकि भारतीय साहित्य का अनुवाद एक नई परंपरा है। पर पिछले कुछ दशकों में स्थिति बेहतर हुई है। विश्वविद्यालयों में अब पहले से अधिक साहित्यिक अनुवाद के पाठ्यक्रमों का सञ्चालन हो रहा है। इस तरह मुझे लगता है कि पिछले 50 वर्षों में स्थिति में सुधार हुआ है और हमारे साथ हाइंस वर्नर वेस्लर, इनेस फोर्नेल, आल्मूट डेगनेर जैसे बेहतरीन अनुवादक हैं, जो भविष्य में हमें और अनुवाद प्रकाशित करने में सहायता करेंगे।

नमिता खरे : अदिति, जैसा कि आपने कहा, अनुवाद वाणी प्रकाशन के मुख्य केंद्र बिन्दुओं में से एक है, तो आप जर्मन साहित्य या व्यापक सन्दर्भ में देखें तो यूरोपीय साहित्य को हिंदी भाषी समाज में किस तरह देखती हैं?

अदिति महेश्वरी : मुझे लगता है कि जर्मन साहित्य के हिंदी में अनुवाद की परंपरा काफी अच्छी रही है। न सिर्फ वाणी प्रकाशन से बल्कि बाकी प्रकाशनों से प्रकाशित अनुवादों की सूची काफी उत्साहजनक है। कभी-कभी इस उत्साह का आकलन किताबों की बिक्री से नहीं किया जा सकता। हो सकता है कि बिक्री के हिसाब से अनूदित साहित्य फायदेमंद न हो, पर इस तरह का काम हमारी सूची को विविधतापूर्ण बनाता है और साथ ही हमारे प्रकाशन को वास्तविक अर्थों में एक अंतर्राष्ट्रीय स्तर प्रदान करता है। इसलिए मैं अनुवाद को लेकर काफी सकारात्मक हूँ। पर सबसे बड़ी समस्या है अनुवादकों के पारितोषिक के लिए अनुदान प्राप्त करने की, जिसमें मुझे लगता है कि भारतीय भाषाओं के प्रोग्राम निश्चित रूप से काफी पीछे हैं।

हाइंस वर्नर वेस्लर : भारत का पुस्तक-बाज़ार अभी भी बहुत हद तक सरकारी संस्थानों द्वारा खरीद पर निर्भर है। आपके हिसाब से बाज़ार की क्या स्थिति है? क्या वास्तव में लोग विदेशी साहित्य में रुचि रखते हैं? मेरा मतलब है कि आप कितनी प्रतियाँ बेच पाती हैं? बहुत लोगों का मानना है कि बंगाली पुस्तक बाज़ार ज्यादा समृद्ध है; या फिर हिंदी तो कम लोग ही पढ़ते हैं; वैसे भी नई पीढ़ी का रुझान तो अंग्रेजी की तरफ है; या ज्यादातर लोगों की तो पढ़ने में ही रुचि नहीं है। इन सब बातों पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है?

अदिति महेश्वरी : ये सच है कि पुस्तकों की प्रतिस्पर्धा में अब नेटफ्लिक्स और अमेज़न प्राइम भी शामिल हैं। इस समय भारत की स्थिति यह है कि हमारे प्रेम और नफरत की भाषा भले ही स्थानीय हो, पर ख्वाबों की भाषा अंग्रेजी बन गयी है। दिन-प्रतिदिन भारतीय भाषाओं में पुस्तकों का प्रचलन कम हो रहा है। यहाँ तक कि शहरों में भी किसी किताब-घर की अलमारी में अच्छी साहित्यिक पुस्तकों को स्थान मिलना मुश्किल हो गया है। अगर आप किसी मॉल में किसी किताब की दुकान पर जायेंगे तो वहाँ किसी अच्छी साहित्यिक कृति का मिलना मुश्किल है, जबकि अमरीकी प्रेरणादायक किताबें और बेस्टसेलर जैसे मार्क मेंसन की किताबें पूरी अलमारी को ढंक देती हैं। इस तरह भारत में विभिन्न स्तर की वास्तविकताओं (बहु-यथार्थता) की स्थिति है। जैसे कि अगर मैं आपको लखनऊ का उदाहरण दूँ तो वहाँ एक प्रदर्शनी में मेरी टीम ने बड़ी संख्या में किताबें बेचीं। सच कहूँ तो हमें दिल्ली से और माल भेजना पड़ा।

हाइंस वर्नर वेस्लर : मुझे यह सुनकर ख़ुशी हुई। और आप 'हिन्द युग्म' प्रकाशन की सफलता पर क्या प्रतिक्रिया देंगी? वे वास्तव में पेपरबैक और सस्ते संस्करणों को बेच रहे हैं। क्या आप उनसे प्रतिस्पर्धा में हैं या वाणी प्रकाशन की छवि एक उच्च श्रेणी के साहित्य के प्रकाशन वाली है?

अदिति महेश्वरी : हमने हेर्टा म्युलर पेपरबैक और हार्डबैक दोनों संस्करणों में छापा था। दोनों एक साथ प्रकाशित किए थे। बहुत सारी किताबों के भिन्न संस्करण एक साथ बाज़ार में उतारे गए। जैसा कि मैंने कहा कि हम बहु-वास्तविकता की दुनिया में रह रहे हैं। हम बड़े स्तर पर पेपरबैक संस्करण छाप रहे हैं क्योंकि वह सामान्य पाठकों के लिए सुलभ है। जहाँ तक हार्डबैक संस्करण की बात है, उन्हें छापना सरकार द्वारा अपेक्षित है और पॉलिसी का हिस्सा है ताकि सरकारी पुस्तकालय उन्हें खरीद सकें।

हाइंस वर्नर वेस्लर : क्या प्रकाशन अभी भी सरकारी संस्थाओं और पुस्तकालयों की फरमाइशों पर निर्भर है?

अदिति महेश्वरी : नहीं। ऐसा नहीं है। यह बुटीक पोर्टफोलियो का भाग है। सरकारी खरीदों के साथ-साथ, आम पाठक भी बराबर के भागीदार हैं। इसमें कोई संदेह

नहीं है कि सरकार किताबों की सबसे बड़ी खरीददार है। लेकिन सोशल मीडिया ने युवाओं तक किताबों को पहुँचाना संभव बनाया है। हम ट्विटर, फेसबुक, इंस्टाग्राम आदि पर काफी सक्रिय हैं और इससे काफी मदद भी मिली है। पर साथ ही हम यह भी सुनिश्चित कर रहे हैं कि देश के हर हिस्से में होने वाले छोटे-बड़े पुस्तक मेलों में भाग लें। हम हर साल लगभग 40 पुस्तक मेलों में भाग ले रहे हैं चाहे वो किसी महाविद्यालय का कोई छोटा पुस्तक मेला हो या देश का सबसे बड़ा - नई दिल्ली विश्व पुस्तक मेला हो। हमारे ऑनलाइन स्टोर हैं। हमारी कोशिश है कि कोई भी वाणी प्रकाशन की दुकान में आये, चाहे वह गृहिणी हो, बच्चा हो, शोधार्थी, विद्यार्थी हो या कोई साहित्य प्रेमी, वाणी प्रकाशन से वह खाली हाथ न जाये।

हाइंस वर्नर वेस्लर : क्रिस्टिआन आपने काफी किताबें प्रकाशित की हैं, जो कि प्रशंसनीय है, लेकिन आप बाज़ार के एक छोटे भाग में सक्रिय हैं। क्या आपको लगता है कि आप बहुत ज़्यादा लोगों तक पहुंच सकेंगे?

क्रिस्टिआन वाइस : अगर मैं विश्व प्रसिद्ध हस्तियों जैसे अरुंधति रॉय आदि से प्रतिस्पर्धा करना चाहूँ तो यह नामुमकिन है। उनकी बिक्री लाखों में हैं, जो मेरी कभी नहीं हो सकती। पर जब हम बात करते हैं हिंदी साहित्य की तो मैं उदय प्रकाश और गीतांजलि श्री का उदाहरण देना चाहूँगा। अगर विक्रय संख्या की बात करें तो मैं गीतांजलि श्री की पुस्तक "माई" और उदय प्रकाश रचित "और अंत में प्रार्थना", दोनों के अनुवाद की 1000 प्रतियाँ बेचने में सफल रहा। आप कह सकते हैं कि अरुंधति रॉय की तुलना में यह काफी कम है पर मुझे लगता है कि यह काफी अच्छी संख्या है। और ऐसा संभव हो पाया क्योंकि उदय प्रकाश और गीतांजलि श्री दोनों ही जर्मनी आये थे और उनके साथ हमने पुस्तक-पाठन कार्यक्रम आयोजित किए थे। जर्मनी में लोग इस तरह के कार्यक्रमों में जाना, लेखकों से मिलना और बात करना आदि पसंद करते हैं और अगर वे कार्यक्रम से खुश होते हैं तो वे किताब खरीदते हैं। मैं इससे खुश हूँ। द्रौपदी प्रकाशन की सबसे सफल किताब बेबी हलदर की है जो मूल बांग्ला से "जुबान" द्वारा अंग्रेजी में "A life less Ordinary" के रूप में अनूदित हुई। हमने इस किताब के जर्मन अनुवाद की 2500 प्रतियाँ बेचीं। हम 'ऊनियोन्स फ़र्लाग' (Unionsverlag) के साथ मिलकर काम कर रहे हैं जिसने द्रौपदी प्रकाशन से लाइसेंस लेकर अपनी प्रतियाँ निकालीं और 5000 प्रतियाँ बेचने में सफल रहा।

हाइंस वर्नर वेस्लर : ऊनियोन्स फ़र्लाग आपकी ओर से ई-पुस्तकें भी प्रकाशित करता है न?

क्रिस्टिआन वाइस : हाँ। हम मिलकर काम कर रहे हैं और इस तरह हम ज्यादा लोगों तक पहुँच पा रहे हैं। हम अपनी कुछ श्रेष्ठ किताबें उनको देते हैं जिन्हें वो ई-पुस्तक के रूप में अपने प्रकाशन के नाम से प्रकाशित करते हैं। मैं इस सहयोग से काफी खुश हूँ।

हाइंस वर्नर वेस्लर : अदिति, क्या आप भी ई-पुस्तकें प्रकाशित करती हैं?

अदिति महेश्वरी : जी हाँ। हम ई-पुस्तक और ऑडियो बुक दोनों प्रकाशित करते हैं। हिंदी में हमने लगभग 300 ऑडियो बुक्स प्रकाशित की हैं और हमने गूगल बुक्स और किंडल दोनों पर अपनी उपस्थिति बनाई हुई है।

हाइंस वर्नर वेस्लर : क्रिस्टिआन एक सवाल और क्योंकि आपने उदय प्रकाश और गीतांजलि श्री का नाम लिया। हम अनुवादकों को भाषाई क्षमता तो सिखाई गई है पर अपने पाठ्यक्रमों में अनुवाद की कला नहीं सीखने को मिली, जो कि एक बड़ी समस्या है। मुझे लगता है कि यही समस्या हिंदी से अंग्रेजी अनुवाद में भी है। मैंने कई हिंदी उपन्यासों के घटिया अंग्रेजी अनुवाद देखे हैं, जो हिंदी साहित्य की छवि को ख़राब करते हैं। अनुवाद में पेशेवर लोगों का और अनुवाद में करिअर विकल्पों का अभाव है। जहाँ तक हिंदी से जर्मन अनुवाद की बात है, मैंने पिछले सालों में तीन बेहतरीन अनुवादकों को इस क्षेत्र में हार मानते देखा है। क्योंकि हिंदी अनुवाद से आप चीनी या किसी अन्य वैश्विक भाषा की तरह आजीविका नहीं कमा सकते। कुछ अकादमिक व्यवसायों के अलावा हिंदी में करियर विकल्प नहीं है। और बाकी भारतीय भाषाओं के साथ तो ये समस्या और भी गहरी है। इस पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है?

क्रिस्टिआन वाइस : मैं आपसे बिलकुल सहमत हूँ। मैंने काफी युवाओं को बढ़ावा देने की कोशिश की, पर सच कहूँ तो मेरे लिए भी यह काफी मुश्किल है। अगर आप

हम अनुवादकों को भाषाई क्षमता तो सिखाई गई है पर अपने पाठ्यक्रमों में अनुवाद की कला नहीं सीखने को मिली, जो कि एक बड़ी समस्या है। मुझे लगता है कि यही समस्या हिंदी से अंग्रेजी अनुवाद में भी है। मैंने कई हिंदी उपन्यासों के घटिया अंग्रेजी अनुवाद देखे हैं, जो हिंदी साहित्य की छवि को ख़राब करते हैं।

हिंदी से जर्मन अनुवाद करते हैं तो आपको जीवनयापन के दूसरे तरीके भी खोजने होंगे। हो सकता है अगले 10 सालों में स्थिति में सुधार हो। फिर भी हमें नए लोगों को अनुवाद के लिए प्रेरित करना चाहिए और उनकी सहायता करने की कोशिश करनी चाहिए।

हाइंस वर्नर वेस्लर : अदिति महेश्वरी, आपने भारतीय भाषाओं में और भारतीय भाषाओं से अन्य वैश्विक भाषाओं में अनुवाद के लिए आर्थिक सहायता की समस्या का जिक्र किया। कुछ साल पहले यही मुद्दा सरकारी संस्थाओं ने भी उठाया था। लगभग 15 साल पहले ILA (इंडियन लिटरेचर अब्रॉड) बनाया गया और इसमें काफी प्रयास किए गए। हमें इससे काफी उम्मीद थी, पर यह योजना भी कार्यान्वित नहीं हो पाई और उदय होने से पहले ही अस्त हो गयी। क्या कोई उम्मीद है कि भविष्य में इस तरह की या कोई इससे अधिक व्यावहारिक योजना अस्तित्व में आएगी?

अदिति महेश्वरी : हम उम्मीद कर रहे हैं कि ऐसा हो। हमने शिक्षा मंत्री को पत्र लिख कर इस तरफ उनका ध्यान खींचना चाहा कि अगर अंतरराष्ट्रीय अनुवादकों को अच्छा मेहनताना नहीं मिलेगा तो वो भारतीय साहित्य की तरफ क्यों आकर्षित होंगे? ये सच है कि ILA को देश के महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों का समर्थन मिला, पर पता नहीं क्यों वह नौकरशाही की भेंट चढ़ गया। मैं उम्मीद करती हूँ कि सरकार इस परिकल्पना को पुनर्जीवित करे। मैं क्रिस्टिआन और द्रौपदी फ़र्लाग की पृष्ठभूमि को भलीभांति समझती हूँ। इसमें अंग्रेजी की भूमिका भी है। अंग्रेजी में अनुवाद, भारतीय भाषाओं का असली जायका देने में भले ही असमर्थ हो, पर अगर यही एक कड़ी है तो यही सही। हमें किताब और लेखक की खातिर इस कड़ी को चुनना पड़ेगा।

अगर हमें अपनी तरफ से अनुवादकों को पैसा देना पड़े तो हमारी सूची सिर्फ प्रसिद्ध लेखकों और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित किताबों पर ही केंद्रित होगी। टॉमस ट्रांस्ट्रोमर हमारी सूची में अपने नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने से 9 वर्ष पहले ही शामिल हो गए थे।

सलमान अब्बास : क्या आपको लगता है कि आने वाले समय में आपका कोई प्रतिद्वंदी होगा या भारतीय भाषाओं से जर्मन में अनुवाद प्रकाशित करने में आपका एकाधिपत्य है?

क्रिस्टिआन वाइस : मेरे पास कोई एकाधिपत्य नहीं है। न कभी था और मुझे लगता है न कभी होगा। मुझे अन्य प्रकाशकों के साथ मिलकर काम करना पसंद है। अगर कोई और प्रकाशक भी सीधे भारतीय भाषाओं से जर्मन में अनुवादों को प्रकाशित करते तो हम कुछ समझौते कर सकते थे और मैं निश्चित रूप से इसको स्वीकार करता। हालांकि अभी तो जर्मन बाज़ार में ऐसे कोई और प्रकाशक मौजूद नहीं हैं।

हाइंस वर्नर वेस्लर : अदिति महेश्वरी, आप हिंदी में अनुवादों के लिए आर्थिक प्रबंध कैसे करती हैं? क्या यह आमदनी सिर्फ बाज़ार में बिक्री से आती है या कोई और आर्थिक स्रोत भी है?

अदिति महेश्वरी : सच कहूं तो अगर हमें अपनी तरफ से अनुवादकों को पैसा देना पड़े तो हमारी सूची सिर्फ प्रसिद्ध लेखकों और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित किताबों पर ही केंद्रित होगी। टॉमस ट्रांस्ट्रोमर हमारी सूची में अपने नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने से 9 वर्ष पहले ही शामिल हो गए थे। ऐसा सिर्फ कमाल के अनुवादकों की वजह से संभव हो पाया।

क्रिस्टिआन वाइस : मैंने सुना है कि सीगल (Seagull) प्रकाशन जर्मन साहित्य का काफी अनुवाद कर रहा है और उन्हें जर्मनी के विदेश मंत्रालय से काफी फंड भी मिल रहा है। क्या आपने कभी विदेश मंत्रालय से अनुवाद और प्रकाशन के लिए आर्थिक मदद मांगने की कोशिश नहीं की?

अदिति महेश्वरी : हाँ। कुछ परियोजनाओं में सहायता प्राप्त हुई है जिससे मुख्यत: अनुवाद का खर्चा वहन करने में मदद मिली। जैसे गेटे (Goethe) इंस्टिट्यूट ने हेर्टा म्युलर के अनुवाद में आर्थिक मदद की।

चन्द्रिका कुमार : पिछले कुछ वर्षों में बहुत सी किताबों की दुकानें बंद हो गई हैं और नई भी नहीं खुल रही हैं। शॉपिंग मॉल में स्थित किताब की दुकानों में भी साहित्य के लिए न के बराबर जगह बची है। ऐसे में अगर कोई अच्छा साहित्य पढ़ने की चाह रखता हो तो उसे ऑनलाइन स्टोर पर ही निर्भर होना पड़ता है। घर पर पुस्तक मंगवाने और पुस्तक की दुकान में जाकर खरीदने में काफी फर्क है। तो मुझे लगता है कि किताबों की दुकान कम होने के साथ-साथ पढ़ने की संस्कृति भी कम होती जा रही है।

अदिति महेश्वरी : मैं बिलकुल आपकी बात को समझ पा रही हूँ। और खासकर इस महामारी ने ऐसे स्वतंत्र पुस्तक भंडारों पर चोट की है जहाँ वास्तव में कुछ अच्छा साहित्य ढूंढा जा सकता था। ये कॉर्पोरेट पुस्तक भंडार नहीं

थे क्योंकि कॉर्पोरेट पुस्तक भंडार सिर्फ सर्वाधिक बिकने वाली किताबों या प्रेरणादायक किताबों पर ही अपना ध्यान केंद्रित करते हैं। हमारा समाज जिस कमर्शियल चक्र में फँस गया है वह बहुत दुखदायी है। जब हम किताबों के ढूंढे जाने की बात करते हैं तो मुझे लगता है कि अब हमें सोशल मीडिया को काम पर लगाना होगा। भले ही ऑनलाइन स्टोर में संभावनाओं का अभाव हो, पर इस तरह हम देख सकते हैं कि कौन-सी किताब बाज़ार में मौजूद है और कौन लेखक किस तरह का काम कर रहा है।

क्रिस्टिआन वाइस : मैंने सुना है कि हर साल काफी साहित्यिक उत्सव भी होते हैं जैसे जयपुर साहित्यिक पर्व या हैदराबाद आदि। और ये उत्सव किताबें बेचने का अच्छा अवसर होते हैं।

अदिति महेश्वरी : इस तरह के साहित्यिक पर्व किताबों पर चर्चा करने को एक नया आयाम देते हैं और लेखकों को एक्सपोज़र भी मिलता है। पर अगर हम किताबों की बिक्री की बात करें तो ये पर्व उतने मददगार नहीं हैं।

हाइंस वर्नर वेस्लर : क्रिस्टिआन, क्या आप भी लेखक के द्वारा पाठन-कार्यक्रमों में काफी बिक्री कर पाते हैं?

क्रिस्टिआन वाइस : हमारे यहाँ जर्मनी में काफी सारे छोटे साहित्यिक पर्व होते हैं। जैसे हाइडलबर्ग में दो साल पहले एक पर्व था और सारा राय वहाँ मौजूद थीं और यह एक बेहतरीन पाठन-कार्यक्रम था।

हाइंस वर्नर वेस्लर : आप विस्तार में सभी को बताइये कि कैसे आपने सारा राय को तीन हफ्ते जर्मनी में जगह-जगह अपने नेटवर्क में भेजा। दरअसल यह अर्ध निजी आधार पर काम करता है, पर यह एक अच्छा तरीका है।

क्रिस्टिआन वाइस : हाँ यह कम बजट वाला है और एक ही लक्ष्य के लिए समर्पित लोगों के नेटवर्क से संभव हो पाता है। सारा राय ने जर्मनी में लगभग 10 से 15 पाठन-कार्यक्रम किए।

क्रिस्टिआन वाइस : एक अच्छे पाठन कार्यक्रम में मैं लगभग 50 से 100 प्रतियाँ बेच सकता हूँ। बिक्री का दूसरा महत्त्वपूर्ण तरीका है पुस्तक समीक्षाएँ। अगर किसी बड़े अख़बार या पत्रिका में पुस्तक की समीक्षा छप जाये तो थोड़े ही समय में मैं 100 या उससे ज़्यादा प्रतियाँ बेच पाता हूँ। पर इन अख़बारों से संपर्क करना बहुत कठिन है।

हाइंस वर्नर वेस्लर : पर आप इसमें काफी बार सफल रहे हैं। है न?

क्रिस्टिआन वाइस : हाँ। और यह एक बड़ी सफलता है। पर मार्केटिंग बहुत मेहनत का काम है। रीडिंग टूर, साहित्यिक उत्सव और अख़बार, और हाँ, रेडियो भी महत्त्वपूर्ण है। जर्मनी में रेडियो पर भी साहित्य समीक्षा के कार्यक्रम होते हैं। इन सबके मेलजोल से बिक्री हो पाती है। वरना पुस्तक भंडारों में बिक्री बहुत कम है। बड़े प्रकाशनों का ही पुस्तक भंडारों पर वर्चस्व है।

हाइंस वर्नर वेस्लर : क्या आप ऊनियोन्स फ़र्लाग के साथ सहकारिता में द्रौपदी प्रकाशन का भविष्य देखते हैं?

क्रिस्टिआन वाइस : पुस्तक भंडार अभी भी महत्त्वपूर्ण हैं पर जो भी बड़े पुस्तक भंडार हैं वे बड़े प्रकाशकों से और जाने-माने प्रसिद्ध लेखकों की ही किताबें खरीदते हैं। बड़े पुस्तक भंडार छोटे प्रकाशकों को पसंद नहीं करते और मेरे लिए उन तक पहुंचना बेहद कठिन है। उन्हें भारतीय किताबें पसंद नहीं हैं क्योंकि वो ज्यादा संख्या में नहीं बिकतीं।

हाइंस वर्नर वेस्लर : और जर्मन बाज़ार के बड़े खिलाड़ी विरले ही भारतीय भाषा से अनूदित साहित्य प्रकाशित करते हैं। सिवाय अलका सरगोई की "कलिकथा : वाया बाईपास", जो काफी साल पहले प्रकाशित हुई थी।

क्रिस्टिआन वाइस : पिछले 50 सालों में सिर्फ यही ऐसा हिंदी उपन्यास है जिसका सीधे जर्मन में अनुवाद हुआ और एक बड़े जर्मन प्रकाशक द्वारा प्रकाशित किया गया।

हाइंस वर्नर वेस्लर : म्यूनिख़ के 'आ आइन्स' (A1) फ़र्लाग ने किरण नगरकर की किताब को छापा। किरण नगरकर एक बड़ा नाम हैं और प्रकाशन ज्यादा बड़ा भी नहीं है। पर ऐसे किस्से कम हैं।

नमिता खरे : अदिति, मैं आपको यह बताना चाहती हूँ कि इस संगोष्ठी में जर्मन से हिंदी अनुवाद करने वाले लोग सोच रहे हैं कि क्या हमें जर्मनी के अपराध और रोमांच साहित्य (जर्मन क्राइम फिक्शन) का अनुवाद करना चाहिए? आप एक प्रकाशक की तरह इसको कैसे देखती हैं? और क्या आपको लगता है कि हिंदी में क्राइम फिक्शन एक अच्छा विचार है?

अदिति महेश्वरी : हमने स्कैंडिनेवियाई क्राइम फिक्शन के कुछ अनुवाद देखे हैं पर मुझे नहीं लगता वो उतने सफल हो पाए जितना कि अंग्रेजी में। हमारी दिलचस्पी ये जानने में है कि किस तरह हम किसी कहानी में छुपे सांस्कृतिक मर्म को अपने पाठकों तक पहुँचा सकते हैं, ताकि वे इन कहानियों को अपने ब्योमकेश बक्शी की तरह पढ़ सकें। या सुरेंद्र मोहन पाठक की तरह। हमें यह समझना है कि हम इन चीजों को कैसे जोड़ सकते हैं। और जाहिर है, नए बाज़ारों को आजमाया ही जाना चाहिए।

हाइंस वर्नर वेस्लर : क्राइम फिक्शन जर्मनी में आजकल काफी प्रचलित है। जब मैं अंजली देशपाण्डे के उपन्यास "हत्या" को देखता हूँ तो मुझे लगता है हिंदी में भी इस तरह की विधा जन्म ले रही है। अदिति जी, आपने क्या खूब कहा कि नए बाज़ारों को आजमाया ही जाना चाहिए। आपका और क्रिस्टिआन जी आपका इस संगोष्ठी का हिस्सा बनने के लिए धन्यवाद। ■

भारती सिंह
जन्म रांची, झारखंड में जन्म। बी.ए., एल.एल.बी. की उपाधि प्राप्त की। हिंदी साहित्य में गहरी रुचि। *प्रतिलिपि* एवं अन्य पत्रिकाओं में कहानियां, लघुकथा एवं कविताएं प्रकाशित। भाषा एवं संस्कृति के बढ़ावा देने वाले ऑनलाइन मीडिया मीडिया मंचों पर सक्रिया। सम्प्रति : घाना, अफ्रीका में निवास।
सम्पर्क : bharti.guddi@gmail.com

कहानी

आंगन की धूप

सांझ होते ही दिया-बाती की तैयारी करती बड़की माई, लालटेन को राख से चमका कर साफ कर देती है। काका दुआर पर से आवाज लगाएं इससे पहले जला कर रख देती है। लीपे चूल्हे पर सब्जी छौंकती, आटा मिलाती इन दिनों अनमनी सी हुई जा रही है। ई कोन देवता पितर का श्राप लगा है गांव की रौनक ही चली गयी है। लोग बाग घर से नहीं निकल रहे।

जो निकल भी रहे उ भी मुँह ढंक कर जईसे नजर लग जाए। ई बीमारी न नइहर सुने न ससुराल, आसपास के दस हितई में भी नही सुनी, काका दुआर पर सुन्न पड़े रहते हैं। दु चार गो लोग आते जाते गोर लग लेते, चाय पीने के

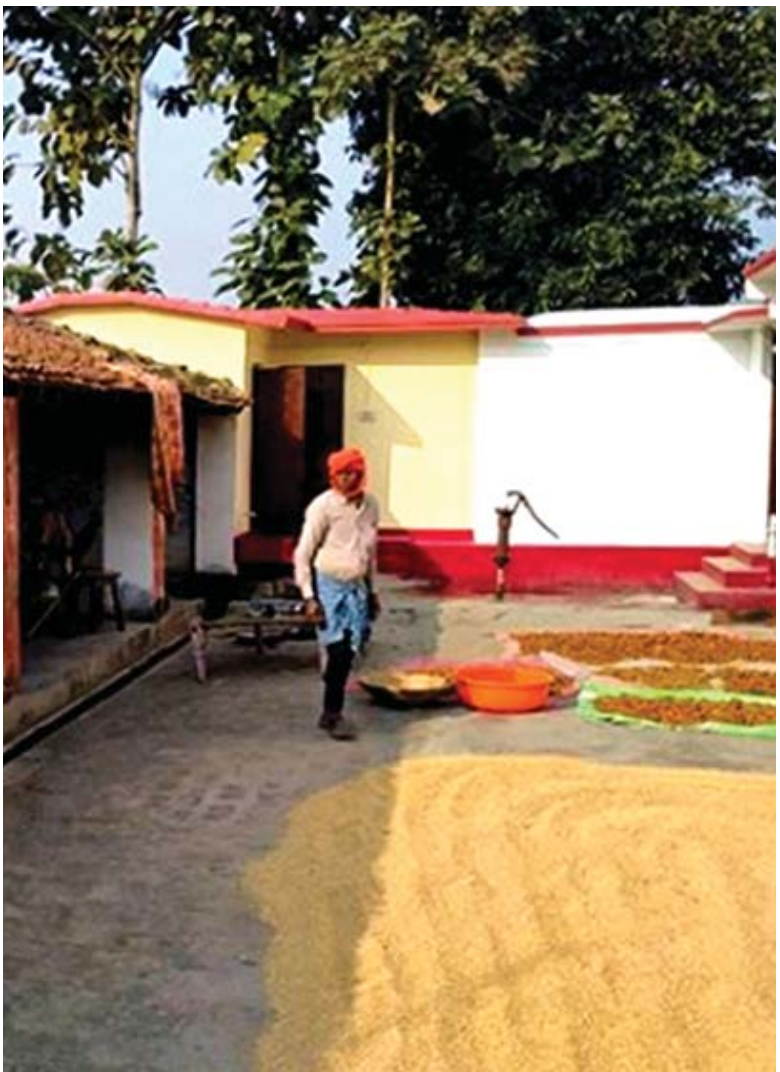

बहाने की मन लगा रहता। तब बड़की माई भुनभुनाते चाय चढ़ाती।

"ई नही देखेंगे घर में चीनी है कि नहीं, दूध है कि नहीं बस ऑर्डर चला देंगे।" झट से छोटकी कनिया के यहाँ से आधा कप दूध उधार मांग लाएगी। छोटकी कनिया ने कभी उधार वापस नहीं लिया, पर बड़की माई जरूर कहेगी,

"कनिया तनी आधा कप दूध पईचा दे दो, कल भोरे ले आएंगे।" भोरे दूध लौटाने जाती तो कनिया वापस नहीं लेती, उल्टे चाय भी बनाकर पिलाती।

दोनों गोतनी की बात निरन्तर होती रहती, भाइयों में अबोला था। काका को सब पता था पर अनजान बने रहते। ई औरतिया बात में कौन पड़े, अपने लड़कर एक हो जाएगी, इनकी बात में आकर भाई-भाई में बातचीत बन्द हो गयी।

अरे का जरूरत थी सब बात आकर कहने की। दुनियाभर का टेंशन माथे पर सवार रहता है। हम कहाँ औरतों को सब बात बताते हैं, किससे कितना कर्जा लिए, अबकी आधी बीज नकली निकल गयी, चार साल से रघु पैसा नहीं लौटा रहा, कितनी बात है इनको नहीं बताते। ई सब एक एक बात बताती रहेगी।

काका! बाहर ही बाहर भाई से बात कर आते पर घर में नहीं बताते। दुनो जनानी को भी भाइयों का भेद नई पता।

रात काका बड़ी खांस रहे थे। बड़की माई ने सुना तो दौड़कर दुआर पर आई। लहसुन तेल पकाकर तलवे में मलकर गयी। सुबह उठकर चूल्हा लीपकर पहले काढ़ा बनाई, काका को देकर नहा धोकर सूर्य को जल देते मन ही मन सुहाग के सलामती की प्रार्थना करने लगीं। न जाने मन में क्या आया, फुलवारी में से दुगो उड़हुल फूल लेकर बगीचे में जल अर्पित करते कहने लगी, हे कोरोना माई! जहाँ से आइल बाड़ू उन्हें लौट जा। तब तक कनियाँ भी देखा देखी यही पूजा करने लगी।

दो चार दिन में काका ठीक भी हो गए। बड़की काकी ने मन ही मन कोरोना माई को धन्यवाद दिया और जहाँ

बगीचे में पूजा की थी वहाँ फिर से पूजा करके दुगो लड्डु भी चढ़ा आई।

लोग बाग एक-दूसरे से मिलते बहुत कम हैं नहीं तो काकी सबको बताती कि कैसे-कैसे कोरोना माई की पूजा की। काका अकेलेपन की मनहूसियत को नही झेल पा रहे थे। जब तब किसी बात पर काकी से उलझ पड़ते। किसी से बात न कर पाने की टीस उन्हें बहुत पीड़ा दे रही थी। आजकल के जमाने के फोन की लत उन्हें नहीं पड़ी थी। गांव के सामाजिक माहौल की आदत थी। फोन उन्हें लड़कों के हाथ का झुनझुना लगता, जिसे हर कोई हाथ मे लिए बस बजा रहा है। अपने लड़के भी उनके सामने झुनझुने को नहीं निकालते।

काकी तो बिल्कुल ही नही जानती फोन पकड़ना। नईहर से जब फोन आता तो तो लड़के ही पकड़ाते।

दोनों घरों के बीच एक दीवार थी जहाँ बांस को टिकने के लिए छेद थे। बाद में ये छेद भर दिये गए थे। दोनों घर की आवाज स्पष्ट सुनाई देती। बाद में इन औरतों ने एक स्थायी जगह निकाल लिया जहाँ से मौका पर प्याज, मिर्ची, सब्जी, कढ़ी आता-जाता रहता।

अभी उसी दिन कनिया के पेट मे दर्द उठा तो कराहती दीदी को पुकार रही थी। बड़की झट को हींग पानी देते हुए कहने लगी, कोई कष्ट हो तो संकोच मत करना, रात बिरात जब जरूरत पड़े बता देना। आधी रात फिर कनिया के पुकारने पर पीछे रास्ते से जाकर देख आई। पेट की नस बैठाना उन्हें आता है, सूत से नापकर पता लगा लेती।

लड़के पूछते, इतना प्रेम था तो दिनभर लड़ती क्यों थीं। तब दिन भर दोनों गोतनी छोटी-छोटी बात पर एक-दूसरे की खानदान की बखिया उधेड़ती। बात बढ़ते-बढ़ते मर्दों की लड़ाई तक जा पहुँची। हर तीसरे दिन घर मे किचकिच।

अंत में बात आंगन की दीवार पर आकर खत्म हुई। आंगन लम्बा-चौड़ा छोटे आयताकार टुकड़े में बंट गया।

बच्चे भी बाहर ही साथ खेल पाते, घर में बड़े के डर से बात नहीं करते। औरतों और बच्चों में तो सुलह हो गयी लेकिन मर्दों की बात कैसे सुलझे।

कहा-कही में जो न बोलना था सब बोल गए दोनों भाई।

अब यह आफत बीमारी। कोई हल्का जाड़ बुखार भी हो तो डर से प्राण सूखने लगे। बच्चे घर मे कैद। शादी बियाह जनेऊ मुरन में तनी बाहर निकलना था वह सब भी बंद। मन्दिर तक में जाना बंद। अब तो कोई मरे तो भी नहीं जाना है, गांव भर में पुलिस उतर आई है।

काका को ई पुलिसवालों पर दया आता। काकी से चाय बनवाकर पहुँचाते रहते। आसपास के चार-पांच पुलिस वालों से पहचान कर लिए थे। गर्मी के सबके लिए शर्बत बना-बनाकर पहुँचाते। उसी बहाने बातचीत, देस दुनिया का हाल पता कर लेते।

धीरे-धीरे काका को यह सबमें मन लग गया। बीमारी से डर था, पर कितनी नई चीज पता चली। इस साल गांव में कोई शादी विवाह नहीं हुआ। झूरी बाबा मरे तो बस अपने गोतिया भर में भोज भात। सब कुछ उल्टा-पुल्टा। सौ साल पूरे कर झूरी बाबा गोलोकवासी हुए थे। शादी बियाह जैसा भोज होना था।

यहाँ तो कन्धा देने के लिए लोग नहीं जुटे। मुश्किल से श्मशान ले जाया गया। नाई हजाम तक नहीं आया। घर के लोग अपने से दाढ़ी हजामत बनाए।

आह! कैसा विकट समय आ गया है।

छोटे भाई को बुखार हुआ, ठीक नहीं हो रहा है। कनिया बगीचे में जाकर कुछ पूज रही है। भावज से कैसे बात करे, मलकिनी को बुलाकर पूछते हैं।

पुलिसवाले ने बताया था खांसी बुखार कोरोना हो सकता है। काका को चिंता हो रही है। अपना कहीं छूटता है। घर के बाहर गाड़ी आई है, उसे लेकर जा रही है, कनिया चीख़ चिल्लाकर रो रही है। कौन दुस्मनवा पुलिस में खबर किया।

भाई जैसा हित नहीं और भाई जैसा दुश्मन नहीं।

सब परिवार का जांच हुआ। भाई को अस्पताल ले गए। बाकी परिवार को घर में रहने बोला। किसी से मिलना जुलना नहीं।

काका जरूरत का सामान बड़की माई से भेजवाते रहते। काका खुद को दोषी मानते रहे। नहीं बताते और भाई को कुछ हो जाता तो!

महीने भर बाद भाई ठीक होकर लौट आया। काका के पैर पकड़ कर रोने लगा। आज भइया नहीं होते तो जान बचना मुश्किल था। अपने सामने अस्पताल की खिड़की से लाश जाते देख चुका था। अपने भी हाथ न लगाते लाश को।

सुबह बड़की माई चाय बना रही थी कुछ तोड़ने की आवाज आने लगी। आंगन में निकलकर देखी तो खंती दीवार तोड़ने के काम आ रही थी। दो घण्टे में दीवार टूट गया।

भर आंगन धूप पसर गई। आंगन की धूप में बच्चे खिलखिलाने लगे। ■

विपिन पवार
6 सितंबर 1963 को जन्म। प्रथम श्रेणी में हिंदी में एम.ए.। मराठी, हिंदी एवं अंग्रेजी पर अधिकार। कुछ समय हिंदी का अध्यापन किया। संघ लोक सेवा आयोग से प्रथम श्रेणी के वरिष्ठ राजभाषा अधिकारी चयनित। प्रकाशित कृतियाँ : निबंध संग्रह - शब्दों के परे, अक्षरों की मेरी दुनिया, कहानी संग्रह - पीली रोशनी का समंदर प्रकाशित। आकाशवाणी से रचनाओं का प्रसारण। भारतीय रेल की विभिन्न पत्रिकाओं का संपादन। हिंदी अकादमी, मुंबई के प्रतिष्ठित वरिष्ठ हिंदी सेवी सम्मान से पुरस्कृत। संप्रति : निदेशक (राजभाषा), रेल मंत्रालय, नई दिल्ली-110001 सम्पर्क : vipkum3@gmail.com

पुस्तकायन

खिड़कियों से झांकते अपने-अपने एकांत

विख्यापत ब्रिटिश लेखक एवं राजनेता ऑगस्टिन बिरेल ने कहा है कि "बावर्चियों, योद्धाओं और लेखकों का आंकलन इस बात से किया जाना चाहिए कि वे क्या प्रभाव उत्पन्न कर पाते हैं?"

इस कथन के आलोक में डॉ. दामोदर खड़से के उपन्यास "खिड़कियां" के बारे में यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह एक महा-काव्यात्मक उपन्यास है, जो पाठक के मन पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ता है। डॉ. खड़से मूलत: कवि हैं जिसकी झलक उपन्यास में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती है। "खिड़कियां" को एक मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक उपन्यास कहना समीचीन होगा। जैनेंद्र, इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, कार्ल गुस्टा, फ युंग, सिगमंड फ्रॉयड एवं नार्मन डिक्स्न के बाद पहली बार मानव मन की परत-दर-परत खोलता एवं उसके भीतरी एकांत से परिचय कराता यह उपन्यास अपने समय का महत्वपूर्ण दस्तावेज है ।

हम सबको अपने जीवन में कभी-न-कभी अकेलेपन का सामना करना पड़ता है। कभी हम भीड़ के बीच भी अकेले हो जाते हैं। ओशो ने कहा है कि "भीड़ में रहकर भी अपने साथ होना बहुत बड़ी कला है।" अकेलेपन एवं एकांत में बड़ा फर्क है। अकेलापन जहां ऊब, पीड़ा, अवसाद, क्षोभ तथा रुग्णता को जन्म देता है, वहीं एकांत को किस प्रकार जीवन जीने का सहारा बनाया जा सकता है, यह इस उपन्यास को पढ़कर जाना जा सकता है। उपन्यास के अंत में हमारी यह धारणा पुष्ट हो जाती है कि एकांत तो वरदान होता है यदि अकेलेपन को एकांत में बदलने की कला सीख ली जाए।

अकेलेपन के दुख को लेखक सकारात्मक ढंग से दूर करना चाहता है – "समय दुनिया के हर दुख को सहने और भूलने का सहारा बन जाता है। एक दुख के सामने वह दूसरी चुनौती रख देता है। मनुष्य अपने अतीत को ढ़ोकर बहुत आगे नहीं जा सकता। उसे अपने भविष्य के लिए नए वर्तमान गढ़ने होते है।"(पृ.12)

दो मित्रों, कथानायक अरुण प्रकाश एवं सूर्यकांत के माध्यम से कथा आगे बढ़ती है एवं पत्नी आस्था एवं पुत्री निष्ठा के चरित्र चित्रण में हमें डॉ. खड़से की उस उत्कृष्ट औपन्यासिक कला के दर्शन होते हैं, जिसके लिए "बादल रागकार" डॉ. खड़से विख्यात हैं। प्रारंभिक बीस पृष्ठों में एक आम भारतीय उच्च मध्यवर्गीय दंपत्ति की सुगठित एवं रंजक कथा में हम डूब जाते हैं और हमें आघात तब लगता है जब उपन्यास के पूर्वार्ध में ही कथानायक अरुण प्रकाश विधुर होकर अपने अकेलेपन से जूझने लगते हैं। उपन्यास में आशा, निष्ठा और वैभव, ख्याति, सुचित्रा देसाई, नगमा, सिद्धार्थ और निधि, विजय प्रताप, अमरेंद्र, मीना, श्रीकृष्ण शर्मा और वरुण, राजेश, अनुपमा, अंकुश, साक्षी और अखिल के माध्यम से एकाकीपन की अनेक खिड़कियां खुलती हैं, जिससे अरुण प्रकाश को अपने एकाकीपन को एकांत में बदलने की प्रेरणा प्राप्त होती है। हालांकि यादें तो पीछा नहीं छोड़ती, लेकिन कितने ही मोड़ आएं, हर मोड़ पर यादों के पत्थर विगत का पुलिंदा थामे खड़े रहते हैं। (पृ.98)

उपन्यास के कथानक में कमाल की कसावट है। अनेक अंतर्कथाओं की उपस्थिति के बावजूद भी मूल कथा के प्रवाह में किसी प्रकार की कोई रुकावट नहीं दिखाई देती। अपनी बारी के अनुसार पात्र आते हैं और अपनी भूमिका का निर्वहन कर परदे के पीछे चले जाते हैं। संवाद जानदार हैं। जो लोग डॉ. खड़से से परिचित हैं वे जानते हैं कि डॉ. खड़से जिस प्रकार हमसे बातचीत करते हैं हूबहू

उसी प्रकार लिखते भी हैं। कवि भवानी प्रसाद मिश्र के शब्दों में- *जिस तरह हम बोलते हैं उस तरह तू लिख, और इसके बाद भी हमसे बड़ा तू दिख।*

भाषा में कहीं कोई कृत्रिमता या दिखावा नहीं।

डॉ. खड़से ने अपने इस उपन्यास में नदी विषयक अनेक कविताओं का खूब इस्तेमाल किया है। नदी पर उनके अनेक कविता संग्रह आ चुके हैं- "अतीत नहीं होती नदी", "नदी कभी नहीं सूखती।" एक कथा-संग्रह भी है "आखिर वह एक नदी थी।"

वह रात
नदी की रात थी
हर कलकल
शब्दों में ढलकर
कविता सी बहती रही
रात भर निरंतर
सागर में रहकर भी
नदी
कभी-कभी केवल नदी होती है

उपन्यास में लेखक ने कुछ अनूठे एवं उल्लेखनीय उपमानों, प्रतीकों एवं बिम्बों का प्रयोग किया है, जैसे- पिघलती उमर, अतीत की नदी में सारे वर्ष बह जाते हैं, कविता कभी डूबती नहीं, रचनाकार के व्यक्तित्व में संघर्ष की एक लंबी नदी बह रही है, कविता भीतरी पिघलता सीसा है और ठंडी हवा के झोकों की तरह मनुष्य को जीवित बनाए रखने का प्राणवायु भी देती है ।

उपन्यास में लेखक ने इंदौर एवं मुंबई के अलावा अमेरिका के भूगोल, इतिहास, समाज, जीवन, संस्कृति एवं सौंदर्य का जीवंत चित्रण किया है। लगता है कि लेखक के साथ हम भी अमेरिका में लंबा समय बिता आए हैं।

कथा विकास के क्रम में लेखक ने स्वाभाविक रूप से कुछ ऐसे वाक्य लिख दिए हैं, जो स्वतंत्र रूप से सुभाषित/ सूक्ति का रूप ग्रहण कर लेते हैं, जैसे -कला, साहित्य और संगीत में सराहना खाद-पानी का काम करती है। जीवन का हर दिन विशिष्ट होता है, सक्रिय जितना हो, उतना अच्छा। हर जीवन एक कहानी है और हर कहानी एक जीवन बयान करती है। किसी व्यक्ति से संवाद अच्छा लगता है तो वह व्यक्ति भी भाने लगता है। उम्र के साथ जिंदगी खत्म नहीं होती, जिंदगी के साथ उम्र खत्म होती है आदि।

लेखक का मानना है कि सबसे अच्छी रचना वही है, जिसमें रचनाकार का प्रतिबिंब दिखता हो तथा श्रेष्ठ वह है, जिसमें पाठक अपना प्रतिबिंब पाता हो। (पृ.149) इस कृति

अरुण प्रकाश का परिचय जब कवयित्री साक्षी से होता है तो साहित्यिक निकटताएं बढ़ती जाती हैं और जब साक्षी के पति का देहांत हो जाता है, तो साक्षी का एकांत अरुण प्रकाश के एकांत में समाहित हो जाता है, लेकिन क्या अरुण प्रकाश और साक्षी का विवाह हो पाता है?

में जहां मैंने पल-प्रतिपल कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, अनुवादक, व्याख्याता, संपादक, हिंदी अधिकारी, पति, पिता एवं मित्र डॉ. दामोदर खड़से के दर्शन किए हैं तो मुझे लगातार यह महसूस होता रहा है कि यह मेरी अपनी कहानी है। इस दृष्टिकोण से यह उपन्यास श्रेष्ठता को प्राप्त कर जाता है ।

मेरा अपना मानना है कि सबसे अच्छी कृति वह होती है, जिसके अंत के बारे में हम जरा-सा भी पूर्वानुमान न लगा पाएं और इस कसौटी पर यह उपन्यास पूरी तरह खरा उतरता है।

'एकांत' पत्रिका के संपादक अरुण प्रकाश का परिचय जब कवयित्री साक्षी से होता है तो साहित्यिक निकटताएं बढ़ती जाती हैं और जब साक्षी के पति का देहांत हो जाता है, तो साक्षी का एकांत अरुण प्रकाश के एकांत में समाहित हो जाता है, लेकिन क्या अरुण प्रकाश और साक्षी का विवाह हो पाता है? यह जानने के लिए तो आपको यह रोचक उपन्यास पढ़ना ही होगा ।

उपन्यास का प्रस्तुतिकरण, साज-सज्जा, कागज एवं बाइडिंग आदि उत्कृष्ट हैं लेकिन मुखपृष्ठ को और अधिक आकर्षक बनाया जा सकता था। मुद्रण में प्रूफ एवं वर्तनी की अनेक अशुद्धियां हैं। एक स्थान पर तो अर्थ का अनर्थ हो गया है, "एनजाइंग" के स्थान पर "एनजायनिंग" हो गया है। मूल्य कुछ अधिक है। ■

शीर्षक : खिड़कियां * विधा : उपन्यास * लेखक : डॉ. दामोदर खड़से * संस्करण : 2019 * मूल्य : 595 रुपए * पृष्ठ संख्या : 191 * प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

डॉ. याकूब

१९६२ में तेलंगाना के जिला खम्मम 'रोट्टेमाकुरेवु' में जन्म। उस्मानिया विश्वविद्यालय से एम.ए., पीएचडी। हैदराबाद मुमताज कलाशाला के प्रिन्सपाल रहे हैं। तेलुगु में ५ कविता संकलन, ३ साहित्य विमर्श और २ अन्य ग्रंथ प्रकाशित। १७ विभिन्न पुरस्कारों से सम्मानित। फेसबुक तेलुगु भाषा, "कावि संगमम" के पितामह। केन्द्रीय साहित्य अकादमी तेलुगु सलाहकार मंडली के सदस्य रहे (२०१९)। सम्पर्क : kaviyakoob62@gmail.com

कविता-भारती/तेलुगु

తడి గురించి

కొంచెంసేపటి తర్వాత
ఈ వర్షం ఆగిపోతుంది.
ఆ తర్వాత రోడ్లమీంచి మెలమెల్లగా
నీళ్లన్నీ ఎటో వెళ్లిపోతాయ్-
మేఘాలకోసం పడిగాపులు కాచిన వాళ్లంతా
చిత్తడిని తిట్టుకుంటూ చిరాగ్గా ముఖం
పెట్టుకుంటారు.

వర్షం కురిసినందుకు
మొక్క కృతజ్ఞతగా లేచి నిలబడుతుంది.
కొమ్మలు కొన్ని చినుకుల్ని తమకోసం వచ్చే
పిల్లలకోసం దాచుకొంటాయి.

ఆ తర్వాత
మనలోపల ఇంకిపోతున్న
తడినిల్వల అవసరం గురించి
ఒకరిద్దరు మాట్లాడుకుంటూ
బెంగపడిపోతుంటారు.

పారడాక్స్

నిన్న, అంతకు మునుపు నువ్వున్నావు
కాని నిన్న నువ్ ఇటువైపు నుండే
వెళుతూ కనిపించినా కనీసం ఒక్క
నిమిషాన్నికూడా
నీకోసం కేటాయించలేక పోయాం.
ఇక్కడికి దగ్గర్లోనే నువ్ మాట్లాడుతున్నా
మర్యాదకైనా, గౌరవంగానైనా
కనీసం నీకోసం కొంత సమయాన్ని
కేటాయించలేక పోయాం.

ఇప్పుడేమో నువ్వు చనిపోయావు
చూడు, నీకోసం ఎంత సమయాన్ని
కేటాయిస్తున్నామో!?

तडि गुरिंचि

कोन्चमसेपटि तरवात
ई वर्षम आगिपोतुन्दि
आ तरवात रोड्लमींचि मेलमेल्लगा
नील्लन्नि एटो वेल्लिपोताइ
मेघाल कोसम पडिगापुलु काचिन वाल्लंता
चित्तडिनि तिट्टुकुन्टू चिराग्गा मुखम
पेट्टुकोंनटारु.

वर्षम कुरिसिनंदुकु
मोक्का कृतज्ञतगा लेचि निलाबाडुतुंदि
कोम्मलु कोन्नि चिनुकुल्नि तमकोसम वच्चे
पिल्ललकोसम दाचुकोनटई.

आ तरवात
मनालोपल इंकिपोतुन्न
तडिनिल्वल अवसरम गुरिंचि
ओकरिद्दरु माट्लाडुकंटू बेंगपडिपोतुन्टारु.

पराडाक्स

निन्ना, अंतकु मुनुपु नुवुन्नाउ
कानि निन्ना नुउ इटुवैपु नुनडे
वेलुतू कनिपिंचिना कनीसं ओक्क
निमिशान्नि कूडा
नीकोसम केटाइंचलेका पोयाम
इक्कडिकि दग्गरलोने नुउ
माट्लाडुतुन्ना
मर्यादकैना, गौरवमगानैना
कनीसम नीकोसम कोंत समयान्नि
केटाइंचलेकपोयाम
इप्पुडेमो नुव्वु चनिपोयाउ
चूडु, नीकोसम एंत समयान्नि
केटाइस्तुन्नामों!?

मो. अम्जद अली

हैदराबाद में जन्मे मो. अमजद अली ने भोपाल विश्वविद्यालय से एमएससी, एमए, एलएलबी की उपाधियाँ प्राप्त कीं। तेलुगु साहित्य में गहरी रुचि। तेलुगु में 1 कविता संग्रह, 1 कहानी संग्रह तथा 2 उपन्यास प्रकाशित। उर्दू से तेलुगु में सादत हसन मंटो, अज़मत चुगताई तथा वाजिद तबस्सुम की कहानियों का अनुवाद प्रकाशित। विगत तीन दशकों से सउदी अरब में निवास। सम्प्रति - किंग अब्दुल अजीज विश्वविद्यालय, जद्दा, सउदी अरब में सीनियर इंजीनियर।

सम्पर्क : amjuali1993@gmail.com

तेलुगु से हिंदी अनुवाद -मो. अम्जद अली

नमीं को ढूंढ़ने निकल पड़े हैं!

कुछ देर बाद ही सही
थम जायेगी यह बरसात
सड़कों पर जमा पानी
धीरे-धीरे पता नहीं
हो जाता है कहाँ गायब!

बादलों के लिये
जो तरसते थे
अब उन सबके चेहरे
खिंच जाते हैं
देखकर कीचड़!

बरसात की बूंदों से
उठ खड़ा होता है
पौधा
धन्यवाद कहने को
और अपनी डाल डालियों में
पत्तों के सहारे
छुपा लेती हैं बूँदें कुछ
अपने लिये
आने वाले बालकों के हेतु
फिर कुछ लोग
निकल पड़ते हैं ढूंढ़ने
हम में खोई हुई
नमीं को!

पराडाक्स

कल थे तुम
उस से पहले भी
और कल ही इधर से
गुजरे थे तुम
देखा था हमने
परंतु दे न पाये
कम से कम
एक क्षण भी तुम्हें
ना ही तुम्हारे सम्मान में
ना ही तुम्हारे स्नेह में!

अब तुम
हो गये हो दिवंगत
देखो! अब हम
तुम्हारे लिये
कितना समय
जुटा पा रहे हैं
अपना दु:ख
जताने के लिये!

डॉ. अविनाश श्रीवास्तव

19 नवंबर 1969 को अयोध्या, उत्तर प्रदेश में जन्म। जैव विज्ञान में स्नातक, स्नातकोत्तर तथा पीएचडी की उपाधि प्राप्त की। हिंदी साहित्य में गहरी रुचि। कविताएँ लिखते हैं। विभिन्न राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय शोध पत्रिकाओं में लगभग 37 शोध पत्र प्रकाशित; विज्ञान की 5 पुस्तकों में विशेष अध्याय का योगदान। भारत सरकार द्वारा युवा वैज्ञानिक पुरस्कार से सम्मानित। सम्प्रति - कैलिफ़ोर्निया, अमेरिका में जैव-वैज्ञानिक।

सम्पर्क : savinash52@yahoo.com

कविता

फेसबुक का हासिल

तुम मुझे लाइक दो
मैं तुम्हे लव दूँगा
तुम तीन पंक्तियों में सराहना करना
मैं सराहना पर भी एक कविता लिख दूँगा
तुम टैग करना मुझे
मैं शेयर कर लूँगा

इन दिनों प्यार में व्यापार
और आभासी दुनिया का प्यार
ऐसे ही होता है

पहले बेटी की शादियों में
१०० का शगुन दे आते थे
अगली बार
वही १०० का शगुन हमारे हिस्से आते थे
मेरे पिता जी
इसे बचत बिना इंटरेस्ट बताते थे
ये सहयोग का गणित
मुझे कुछ हद तक तो
समझ भी आते थे

पर इस नए युग का गणित
कितने ही प्रश्नचिह्न खड़ा करता है
एक अच्छी कविता की प्रशंसा के बदले कवि
एक साधारण-सी तुकबंदी को
सौ में सौ देता है
एक संगीतज्ञ तुरही को गिटार
और एक जानकार
रेफ्लेशिया को गुलाब की उपमा क्यों देता है?

फिर लगता है
कई गुलाब रेफ्लेशिया दिखते हैं
होते नहीं
उन्हें सराहना की खाद चाहिए

उन्हें उलाहना की धूप में छाँव चाहिए
आखिर सुगन्धित पुष्प भी तो
मटियाले कीचड़ में उगाये जाते हैं
समय लगता है
मगर सूखे हुए ये बीज
एक दिन इसी भूरी मिटटी में तो हरियाते हैं

फिर ये गणित भी मुझको समझ में आने लगी
इंसान को सुगठित और प्रेम करने की
ये मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया मुझे भाने लगी
आखिर जामवंत ने भी तो यही किया था
हनुमान का अन्तर्मन जागे
उन्होंने भी तो यही यत्न किया था

तो अच्छा है
इंसान अगर लाइक का जवाब लव से दे
सूखती आत्माओं को थोड़ा सा नम कर दे
अच्छा हो की हम थोड़ी सी सराहना से
उलाहना की धूल हटाते रहें
बंज़र दिलों में
सुगन्धित प्यार के फूल खिलाते रहें
एक जर्रे को
जो बना देता है आफ़ताब के क़ाबिल
फेसबुक का यही है
शायद सबसे बड़ा हासिल!

मृणाल शर्मा

राजनाँदगाँव, छत्तीसगढ़ में जन्म। कम्प्यूटर साइंस में उपाधि प्राप्त की। हिंदी साहित्य से गहरा लगाव। कविता, कहानी लिखते हैं। पुरातत्व, इतिहास एवं प्राचीन भारतीय साहित्य में दिलचस्पी। रचनाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। सम्प्रति - सिडनी ऑस्ट्रेलिया में निवास।

सम्पर्क : mrisha2k2@yahoo.com

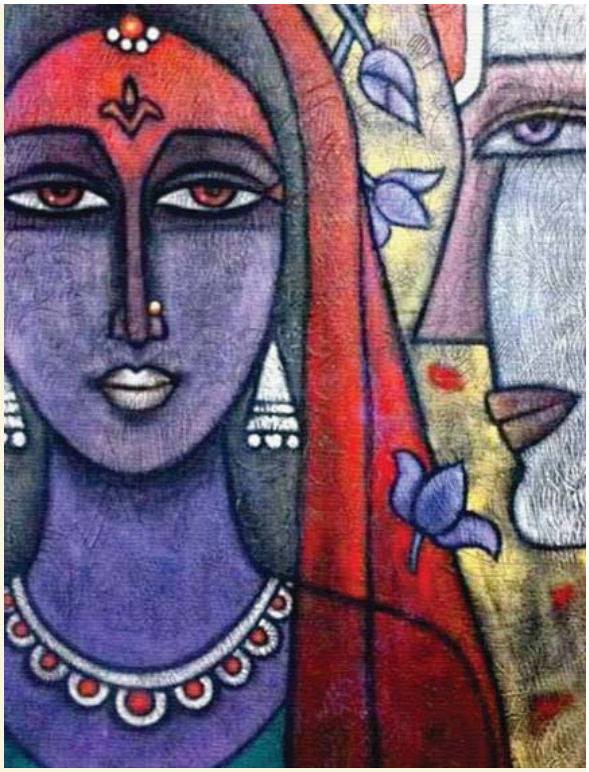

मिलन परीक्षा

स्याह रात और अनगिनत तारों के नीचे
निर्भीक तुम बैठ सको, तो बैठो
मंद दीप्ति में ढँके हुए
मेरे कुछ भाव दिखें तो देखो

दिनकर मुझको कुम्हला देता है
बिसरे किस्सों का स्मरण
तीली बन तन जला देता है
निशा की बिखरती इन घड़ियों में
मेरे कुछ घाव दिखें तो देखो
मंद दीप्ति में ढँके हुए
मेरे कुछ भाव दिखें तो देखो

न मैं प्रेयसी किसी की, न तुम कोई लक्ष्य रहे
फिर कैसे नियम, कैसी शर्तें?
बेवजह किसी पल यूँ ही बस
तुम आकर मिल सको तो मिलो

अब कहाँ रश्मि पीने की क्षमता
और कहाँ तेज की प्यास रही
मधु बरसों से त्याग दिया
बन गरल घुल सको तो घुलो
बेवजह किसी पल यूँ ही बस
तुम आकर मिल सको तो मिलो

आओ तो वही पुरानी राह लेते आना
वही मोहल्ले, गालियाँ, किंवाड़ मिलेंगे
लोग वही और वही सवाल मिलेंगे
स्वमुख से उनके उत्तर बोल सको तो बोलो

देखो, वैसी ही है न वचन की गाँठ
कड़ी, पीड़ा दायक और विषैली?
संजोई हुई है सभ्यता के अवशेषों की तरह
निज करों से इनको खोल सको तो खोलो
लोग वही और वही सवाल मिलेंगे
स्वमुख से उनके उत्तर बोल सको तो बोलो

पीड़ा का आदि न होना दुर्दिन में पीड़ा देता है
उजियारे का व्यसनी कहाँ रात्रि में जीता है
बंधे रहने की कोई प्रतिज्ञा न रहेगी
स्वामित्व का संन्यास अभी सह सको तो सह लो

मैं तटस्थ हूँ विष पर, अमृत तुम पर लीपा हुआ है
मुझमें ब्रह्माण्ड का मौन छिपा, तुममें सांसारिक चर्म चिपा है
मैं कुछ पल रुक कर, नीर बहा बह जाऊँगी
अभिमान पिघल सके इस क्षण, तो तुम संग में बह लो
बंधे रहने की कोई प्रतिज्ञा न रहेगी
स्वामित्व का संन्यास अभी सह सको तो सह लो।

डॉ. अमरेन्द्र कुमार शर्मा

1 जनवरी 1975 को बिहार में जन्म। हिंदी साहित्य में पीएचडी। "आपातकाल : हिंदी साहित्य और पत्रकारिता" तथा "आलोचना का स्वराज पुस्तकें" प्रकाशित। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में तीन दर्जन से अधिक आलेख, साक्षात्कार और कविताएँ प्रकाशित। तुलनात्मक साहित्य विश्वकोश और वर्धा शब्दकोश परियोजना में योगदान। संप्रति : महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में अध्यापन और 2012 से "अभिनव कदम" पत्रिका का सह-संपादन।

सम्पर्क : amrendrakumarsharma@gmail.com

शोध-आलेख

जन्म शताब्दी वर्ष पर विशेष

सत्यजित राय की फ़िल्म 'सद्गति' का 'सद्'

दुखी ने सिर झुकाकर कहा, बिटिया की सगाई कर रहा हूँ महाराज। कुछ साइत-सगुन विचारना है? कब मर्जी होगी?' प्रेमचंद (31 जुलाई 1880 - 08 अक्तूबर 1936) की कहानी 'सद्गति' और सत्यजित राय (2 मई 1921-23 अप्रैल 1992) की फ़िल्म 'सद्गति' की प्रत्यंचा पर चढ़ा यह वह प्रश्नवाचक वाक्य है, जिसकी संरचना में शोषण का ढ़ांचा, ऊँच-नीच की धारणा, रीति-रिवाज का पाखंड और गरीबी की विवशता से उपजी त्रासदी पैबस्त है। कहानी और फ़िल्म में इस वाक्य की मारक क्षमता जितनी गहराई से सृजित होती हुई दिखलाई देती है। कहानी और फ़िल्म के बाहर, चेतना की सतह पर यह उससे कहीं अधिक एक अनिवार्य चोट की तरह अपना काम करती है, सत्यजित राय की 'सद्गति' (1981) को चालीस साल बाद आज इक्कीसवीं सदी में देखते हुए 'सद्' की गतिकी के भाष्य को जानना एक आवश्यक कार्य इसलिए लगता है कि एक ओर अभी हमने पिछले बरस ही चाँद पर जाने की एक असफल गाथा लिखी है और दूसरी तरफ विश्वव्यापी महामारी ने आज मनुष्यता के 'सद्' को नए सिरे से देखने की दृष्टि प्रदान कर रही है। 'गाथाओं' और 'दृष्टियों' के बीच सत्यजित राय के जन्म शताब्दी वर्ष में उनकी इस फ़िल्म के महत्त्व को नए सिरे से रेखांकित किया जाना चाहिए। सत्यजित राय की बावन मिनट की इस फ़िल्म में उतरने से पूर्व सत्यजित राय के बारे में कुछ जरुरी बातों का जिक्र किया जाना ठीक होगा।

सत्यजित राय भारतीय सिनेमा की चैतन्य पहचान है। चैतन्य पहचान का सिरा विश्व सिनेमा तक जाता है। बंगाल की जमीन पर पुनर्जागरण की हवाएँ रविन्द्रनाथ टैगोर के चिंतन के साथ गतिशील थी। गतिशीलता के इसी वातावरण में सत्यजित राय का सिनेमाई बोध जाग्रत हो रहा था। भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण के प्रतीक के तौर पर रविन्द्रनाथ टैगोर द्वारा स्थापित शांति निकेतन अपनी भूमिका निभा रहा था। टैगोर चाहते थे कि सत्यजित राय शांति निकेतन में कला केंद्र के छात्र के रूप में जुड़ें। सत्यजित राय 1940 में शांति निकेतन पहुँचते हैं। सत्यजित राय के शांति निकेतन पहुँचने के ठीक एक वर्ष बाद 1941 में रविन्द्रनाथ टैगोर की मृत्यु हो जाती है। 1942 में सत्यजित राय शांति निकेतन छोड़ कर अपनी सिनेमाई यात्रा पर निकल जाते हैं। 1949 में पथेर पांचाली के लिए कुछ चित्र बनाते हुए ही उनके मन में पथेर पांचाली पर एक फ़िल्म बनाने की धारणा दृढ होती गई। 1955 में पथेर पांचाली फ़िल्म प्रदर्शित हुई। चित्र, छाया और ध्वनि के रास्ते सत्यजित राय अपनी सिनेमाई यात्रा में कुल 36 फ़िल्में बनाई। उनकी अंतिम फ़िल्म 'आगंतुक' 1992 में प्रदर्शित हुई। सत्यजित राय मूलत: बांग्ला फिल्मों के रचयिता रहे हैं। उनकी फिल्मों में बंगाल का समाज सबसे अधिक भास्वर होकर सामने आता है। सत्तर के दशक में भारत के महानगरीय जीवन में होने वाले परिवर्तन को कलकत्ता महानगर में होनेवाले परिवर्तन के सहारे समझा जा सकता है। सत्यजित राय ने कलकत्ता में होनेवाले परिवर्तन को रेखांकित करती हुई तीन फिल्मों का निर्माण क्रमश: प्रतिद्वंधी (1970), सीमाबद्ध (1971), जनअरण्य (1975) किया है।

हिंदी में उन्होंने कुल दो फ़िल्में क्रमशः 1977 में 'शतरंज के खिलाड़ी' और 1981 में 'सद्गति' बनाई। दोनों फ़िल्में प्रेमचंद (31 जुलाई 1880 - 08 अक्तूबर 1936) की कहानी पर आधारित है। मैं यहाँ सत्यजित राय की फ़िल्म 'सद्गति' पर अपने पर्यवेक्षण को आपसे साझा करूँगा।

प्रेमचंद की कहानी 'सद्गति' रजतपट्ट पर सत्यजित राय के निर्देशन में श्वेत-श्याम प्रारूप में पहली बार 1981 में और दूरदर्शन पर रंगीन प्रारूप में 1982 में प्रस्तुत हुई। दूरदर्शन के रंगीन होने का भी यही समय है। फिनलैंड में यह फ़िल्म 1984 में रिलीज की गई। कहानी 'सद्गति' के सिनेमाई रूपांतरण के लिए पटकथा लेखन का कार्य सत्यजित राय ने और प्रेमचंद के पुत्र अमृत राय (1921-1996) ने किया था। 'सद्गति' कहानी को पढ़ते हुए और सत्यजित राय की फ़िल्म 'सद्गति' को देखते हुए मैं कई बार इस कहानी और फ़िल्म के शीर्षक तथा इसमें विन्यस्त कथा के बर्ताव को देखते, समझते हुए रुक जाता हूँ। यह सोचता हूँ कि 'सद्गति' का 'सद्द' क्या है? 'सद्गति' के पात्र दुखिया चमार के जीवन और उसकी मृत्यु की संरचना में पसरी हुई दुर्गति के परिवेश का शीर्षक आखिर 'सद्गति' क्यों रखा गया? हममें से हर किसी के पास इसके तर्कशील संभावित उत्तर हो सकते है। मैं यहाँ 'सद्गति' के मूल शब्द की व्याख्या या अन्य संभावित उत्तरों की तरफ जाना नहीं चाहता। दरअसल, मैं यहाँ दुर्गति की अवस्थाओं को 'सद्गति' कहे दिए जाने को, समय की परिधि और उसकी त्रियक भंगिमा को देखना चाहता हूँ कि जहाँ शब्द की अर्थ-भंगिमा और उसकी मारक क्षमता सीधे-सीधे नहीं बल्कि विलोम में मनुष्य की चेतना को बेधती है, हमारी संवेदना में हाहाकार भर देती है। मैं यहाँ जल्दी से 'सद्गति' में 'सद्द' के एक दृश्य का उल्लेख करना चाहता हूँ - 'उधर दुखी की लाश को खेत में गीदड़ और गिद्ध, कुत्ते और कौए नोच रहे थे। यही जीवन-पर्यन्त की भक्ति, सेवा और निष्ठा का पुरस्कार था।' प्रेमचंद की कहानी 'सद्गति' यहाँ ख़त्म होती है। सत्यजित राय की फ़िल्म 'सद्गति' जहाँ खत्म होती है वहाँ कचरे के ढेर पर दुखी की लाश पड़ी है। दुखी की लाश के आस-पास पशुओं के कंकाल हैं। दुखी की लाश के यहाँ तक पहुँचने का एक वृतांत है। सत्यजित राय अपनी फिल्मों में सामाजिक यथार्थ की सत्यता को प्रस्तुत करने के लिए कोई मेलोड्रामा नहीं रचते हैं बल्कि वे सत्यता को संपूर्ण सामाजिक परिस्थितियों के भीतर घटित होती स्वाभाविक प्रक्रिया और उस प्रक्रिया में शामिल व्यक्ति की इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, मजबूरियाँ, समझौते, दुःख और शोषण की परिस्थितियों को एक महीन वृतांत में रचते हैं। उन्नीस सौ अस्सी के दशक की समय की परिधि और उसकी त्रियक भंगिमा में व्यक्ति की इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, मजबूरियाँ, समझौते, दुःख और शोषण की परिस्थितियों का विन्यास वह नहीं था जो आजादी से पहले के भारत का था। भारत, राजनीतिक स्थितियों की गतिकी में आपातकाल और जनता सरकार की अनिश्चिताओं से बाहर निकलकर फिर से एक नई राह की ओर अग्रसर हो रहा था। एक तरफ, वैज्ञानिक विकास के विभिन्न चरणों से गुजरते हुए भारत अपनी सेटेलाइट 'रोहणी' को अन्तरिक्ष में प्रक्षेपित कर चुका था। किसानों और मजदूरों के लिए भारत में श्रम कानूनों के द्वारा फायदा पहुँचाने की बात की जा रही थी। दूसरी तरफ, जाति-उन्मूलन और बेगार प्रथा अब भी बहस के केंद्र में थी। हिंदी सिनेमा के सुनहरे रजत पटल पर 'एंग्री यंगमैन' अपनी व्यावसायिक सफ़लता का नया दरवाज़ा खोल चुका था। हिंदी सिनेमा की इसी चमकती जमीन पर सत्यजित राय अपनी फ़िल्म 'सद्गति' के धूसर रंग को लेकर उपस्थित होते हैं। फ़िल्म के पहले ही दृश्य में जब कैमरे की आँख टूटी-फूटी मिट्टी की दीवारों वाले खपरैल की छत पर केंद्रित हो जाती है तब यह लगता है कि हिंदी सिनेमा की चमकती जमीन अब भी वृहत्तर भारत की वास्तविक जमीन से कई कोस दूर है। सत्यजित राय की फ़िल्में वृहत्तर भारत की यथार्थवादी तस्वीर है। 'सद्गति' वृहत्तर भारत की यथार्थवादी तस्वीर प्रस्तुत करता है।

'सद्गति' फ़िल्म के तीन दृश्यों की ध्वन्यात्मकता में 'सद्' के वास्तविक भाष्य की लाक्षणिकता सृजित होती हुई दिखलाई देती है। पहला दृश्य, फ़िल्म के पांच मिनट 20 सेकेंड पर उभरता है जिसमें, दुखी चमार जो एक दिन पहले ही बुखार से उठा है और उसे चक्कर आ रहा है, अपनी बेटी की सगाई की शुभ तिथि निर्धारित कराने के लिए पंडित को बुलाने के लिए अपने घर से भूखे पेट, घास का गट्ठर अपने सर पर लादे निकलता है, दूसरा दृश्य आठवें मिनट पर जब, दुखी, पंडित के दरवाजे पर पहुँचता है जहाँ पंडित दुखी को झाड़ू लगाने, भूसा ढोने और फिर लकड़ी की एक बड़ी गाँठ चीरने के लिए कहता है। तीसरा दृश्य फ़िल्म के लगभग आखिरी में जहाँ, लकड़ी की गाँठ के पास दुखी की मृत देह पड़ी है, पंडित मृत देह के पैर में रस्सी का फंदा डालता है और शव को घसीटते हुए कूड़े के ढेर पर जहाँ कई जानवरों के कंकाल पड़े हैं, फेंक देता है। इन तीन दृश्य में संरचित, 'सद्गति' फ़िल्म दर्शक की चेतना के भीतर उतर कर एक ऐसी रासायनिक क्रिया उत्पन्न कर देता है जिसकी गिरफ्त में दर्शक बहुत देर तक एक स्थान पर बैठा रह जाता है। लकड़ी की गाँठ चीरने के प्रयास में भूखे पेट दुखी के मरने, शव के पैर में रस्सी डालकर खींचने और खींचने के कारण जमीन पर उभरती लकीर का दृश्य, संवेदनशील दर्शक की आत्मा पर एक स्थाई लकीर खींच

> सत्यजित राय की फ़िल्म में लकड़ी की गाँठ नहीं फटती है बल्कि गाँठ में कुल्हाड़ी धंसी रह जाती है और दुखी की मृत्यु हो जाती है। दुखी अपनी त्रासदी से झूझते हुए अंततः अपने समय के समाज की शोषणकारी सामंती व्यवस्था की जड़ हो चुकी गाँठ में अपनी कुल्हाड़ी पैबस्त कर देता है।

देता है। दर्शक की चेतना पर यह एक 'सद्द' लकीर है। यह दुखी का 'सद्द' जीवन है। यही दुखी की 'सद्गति' का 'सद्द' भी है जिसमें भयानक गरीबी है, अमानवीय छुआछुत का दंश है, जात-पांत के पाखंड में टूटना जीवन है। इन दृश्यों और उसके पाठ से गुजरने हुए कई बार यह भी लगता है कि आज इक्कीसवीं सदी के तीसरे दशक में युवा होती पीढ़ी क्या इस बात पर यकीन करेगी कि उनके पुरखों के सामाजिक विन्यास का ढ़ांचा 'सद्गति' की तरह का रहा है। असल में 'सद्गति' हमारी चेतना के भीतर एक भयानक चीड़-फाड़ करती है। जाति की संरचना में अछूत के साथ किए जाने वाले अमानवीय कृत्य को देखते, समझते कई बार यह लगता है कि बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर के नेतृत्व के वे तमाम आंदोलन अपने समय में कितने अनिवार्य रहे होंगे और यह भी कि उनकी चिंतनधारा का 'पाठ' कितना आवश्यक है। बहरहाल, 'सद्गति' फ़िल्म के इन दृश्यों को सघनता से रचने का कार्य सत्यजित राय ने अपने समय के बेहतरीन कलाकार ओमपुरी (1950-2017), स्मिता पाटिल (1955-1986), मोहन आगाशे (1947) और गीता सिद्धार्थ (कई लोगों की स्मृति में गीता सिद्धार्थ - शोले फ़िल्म में अभिनेता संजीव कुमार की पत्नी के रूप में हैं। गीता सिद्धार्थ की मृत्यु 2019 में हो गई) के माध्यम से किया है। ओमपुरी ने दुखी चमार की भूमिका निभाई है। स्मिता पाटिल दुखी चमार की पत्नी झुरिया की भूमिका, मोहन आगाशे पंडित घासीराम की भूमिका और पंडित की पत्नी की भूमिका गीता सिद्धार्थ ने निभाई है। दुखी और झुरिया की बेटी धनिया की भूमिका ऋचा मिश्रा ने निभाई है। सत्यजित राय की इस फ़िल्म का संपादन दुलाल दत्ता ने किया है। दुलाल दत्ता ने सत्यजित राय की लगभग सभी फिल्मों का संपादन किया है। 'सद्गति' में संगीत स्वयं सत्यजित राय ने दिया है। इस फ़िल्म में संगीत का की ध्वनि कुछ ही दृश्यों में उभरती है। संगीत का प्रयोग कम हुआ है। संगीत का वहीं प्रयोग हुआ हैं जहाँ दृश्य धीरे-धीरे त्रासदी के रूप में घटित हो जाती है। संगीत, त्रासदी की सांद्रता को सघन कर देती है। जब दुखी घास लेकर पंडित के यहाँ जा रहा होता है तो पूरे रास्ते घंटी बजने की आवाज दर्शक की चेतना पर चोट करती है। यह घंटी पंडित अपने घर में पूजा के दौरान बजा रहा होता है। घंटी की गति और दुखी के चलने की गति में एक अजीब साम्य है। सुनसान गली में दुखी को सर पर घास लादे चलते देखना और पृष्ठभूमि में पूजा की घंटी का लगातार बजते रहना आगामी दृश्यों के लिए कुछ अशुभ संकेत करता है। सत्यजित राय, घंटी की ध्वनि से फ़िल्म में कोई शुभ संकेत नहीं रच रहे होते हैं बल्कि पूजा के दौरान बजाई जा रही घंटी और उससे निकलने वाली कथित पवित्र ध्वनि का विलोम अपने दृश्य में रच रहे होते हैं। 'सद्गति' में दुर्गति का भाष्य रच रहे होते हैं।

'दुखी ने लकड़ी उठाई और घास का एक बड़ा-सा गट्ठा लेकर पंडितजी से अर्ज करने चला।' क्योंकि पंडित को नजराने में देने के लिए 'उसके पास घास के सिवाय और क्या था'। 'सद्गति' कहानी के इस वाक्य में चलने के बिंब और उसकी अर्थ-गाम्भीर्यता सत्यजित राय की फ़िल्म 'सद्गति' में घटित होने की जिस दृश्य गतिकी में प्रवेश लेता है वह बेहद त्रासद है। फ़िल्म की शुरुआत में इस सचलने को देखते हुए यह कहीं से नहीं लगता कि दुखी की यह चाल, उसके चलने की यह क्रिया उसके जीवन में आखिरी बार घटित हो रहा है। सिनेमा के दर्शक को कहीं से नहीं लगता है कि वह अपने घर से फिर न लौट आने के लिए निकला है। फ़िल्म ख़त्म होते-होते यह दर्शक यह देखता है कि अंततः अपने घर दुखी नहीं लौटता है और न उसकी मृत देह ही लौटती है। त्रासदी का यह क्षण परदे पर जितनी सघनता से स्थिर होता है उससे कहीं ज्यादा दर्शक के मस्तिष्क में। दुखी पंडितजी से सिर्फ यह अर्ज करने गया था कि पंडितजी घर आकर, उसकी बेटी की सगाई की तिथि पक्की कर दें। दुखी की मौत, जिसे वास्तव में व्यवस्थाजन्य हत्या कहा जाना चाहिए, सिर्फ इसलिए हो जाती है कि उसे बेटी की सगाई की तिथि पंडित द्वारा तय कराना है और तय कराने के एवज में दुखी को बेगार की तरह भूखे पेट पंडित के यहाँ काम करना होता है। एक ऐसा काम जिसका अभ्यास दुखी को नहीं है। प्रेमचंद 'सद्गति' में लिखते हैं, 'लकड़ी चीरने का उसे अभ्यास न था। घास उसके खुरपे के सामने सिर झुका देती थी। यहाँ कस-कसकर कुल्हाड़ी का भरपूर हाथ लगाता; पर उस गाँठ पर

निशान तक न पड़ता था। कुल्हाड़ी उचट जाती। पसीने में तर था, हाँफता था, थककर बैठ जाता था, फिर उठता था। हाथ उठाये न उठते थे, पाँव काँप रहे थे, कमर न सीधी होती थी, आँखों तले अँधेरा हो रहा था, सिर में चक्कर आ रहे थे, तितलियाँ उड़ रही थीं, फिर भी अपना काम किये जाता था।' दुखी वह काम कर रहा था जो उसे आता नहीं था। वह यह सिर्फ इसलिए कर रहा था कि कहीं पंडितजी को क्रोध न आ जाए और उसके साथ घर जाने से इंकार न कर दे। दुखी अपनी पत्नी झुरिया से यह कह आया था कि वह पंडितजी को लेकर आएगा और अपनी बेटी के लिए सगाई की तिथि तय करा लेगा। दुखी अपने पीछे अपनी पत्नी और बेटी को पंडितजी को सीधा देने की तैयारी करके रखने के लिए कहकर जाता है। सीधा में। 'सेर भर आटा, आधा सेर चावल, पाव भर दाल, आधा पाव घी, नोन, हल्दी और पत्तल में एक किनारे चार आने पैसे' का इतंजाम झुरिया उधार माँगकर करती है। प्रेमचंद की कहानी में झुरिया की बेटी के उम्र की कोई चर्चा नहीं है लेकिन सत्यजित राय की फ़िल्म में झुरिया की बेटी एक अबोध बच्ची है। परदे पर अपनी सगाई की तिथि तय किए जाने के इंतजाम में लगी यह बच्ची जिस निश्चलता और तन्मयता से महुए के पत्ते को थाली बनाने के लिए तोड़ रही है, उसे देखकर महज बाल-विवाह जैसी कुप्रथाओं पर ध्यान नहीं जाता है बल्कि आर्थिक हालातों और उससे उत्पन्न होने वाली विवशता पर जाता है। आर्थिक आधारों की असमानता हमारी धरती पर हमेशा दुर्भाग्य रचती आई है। इक्कीसवीं सदी में इस दुर्भाग्य ने सिर्फ अपना चेहरा बदला है अपनी नियत नहीं। सत्यजित राय की इस फ़िल्म को आज चालीस साल बाद महामारी की त्रासदी के बीच देखते हुए स्वयं के होने को कई-कई बार परखने की आवश्यकता महसूस होती है। असल में जिस लकड़ी की गाँठ को चीरने की असफल कोशिश दुखी कर रहा है वह महज लकड़ी की गाँठ नहीं है। लकड़ी की गाँठ उस जड़ हो चुकी सामाजिक व्यवस्था का है, उस परम्परा का है जिसने दुखी जैसों के जीवन में त्रासदी रची है। दुखी जब लड़की की गाँठ पर उतेजित होकर कुल्हाड़ी से बेतहाशा वार कर रहा होता है तो वह महज लकड़ी की गाँठ पर वार नहीं कर रहा होता है बल्कि सदियों से चली आ रही जड़ व्यवस्था पर वार कर रहा होता है। अपनी अपमानजनक स्थितियों पर चोट कर रहा होता है जिन स्थितियों से वह रोज गुजरता है। दुखी के सामने आज यह स्थिति फिर तब आई जब पंडिताइन से चिलम पीने के लिए थोड़ी सी आग माँगने वह गया था, जिसे दुत्कारते हुए पंडिताइन ने पंडित से कहा - 'अच्छा, इस बखत तो आग दिये देती हूं, लेकिन फिर जो इस तरह घर में आयेगा, तो उसका मुंह ही जला दूँगी।' आवश्यक रूप से दुखी की चेतना पर यह अपमान हथोड़े की तरह काम कर रहा था। दुखी द्वारा लकड़ी चीरने की प्रक्रिया में यह अपमान शामिल था इसलिए दुखी लकड़ी की गाँठ पर वार कर रहा था। लकड़ी की गाँठ पर लगातार वार की प्रक्रिया में दुखी का क्रोध, ग्लानि, अपमान सब कुछ शामिल था। प्रेमचंद ने इसे इस तरह से लिखा है - 'दुखी अपने होश में न था। न-जाने कौन-सी गुप्तशक्ति उसके हाथों को चला रही थी। वह थकान, भूख, कमजोरी सब मानो भाग गई। उसे अपने बाहुबल पर स्वयं आश्चर्य हो रहा था। एक-एक चोट वज्र की तरह पड़ती थी। आधा घण्टे तक वह इसी उन्माद की दशा में हाथ चलाता रहा, यहां तक कि लकड़ी बीच से फट गई और दुखी के हाथ से कुल्हाड़ी छूटकर गिर पड़ी। इसके साथ वह भी चक्कर खाकर गिर पड़ा। भूखा, प्यासा, थका हुआ शरीर जवाब दे गया।' कहानी में इधर गाँठ फटी और उधर दुखी की देह मृत हुई। सत्यजित राय की फ़िल्म में लकड़ी की गाँठ नहीं फटती है बल्कि गाँठ में कुल्हाड़ी धंसी रह जाती है और दुखी की मृत्यु हो जाती है। दुखी अपनी त्रासदी से झूझते हुए अंततः अपने समय के समाज की शोषणकारी सामंती व्यवस्था की जड़ हो चुकी गाँठ में अपनी कुल्हाड़ी पैबस्त कर देता है। फ़िल्म के परदे पर बारिश होती है। बारिश से दुखी की मृत देह को भींगते देखना और फिर उससे लिपटकर उसकी पत्नी झुरिया के चीत्कार की ध्वनि से गुजरना एकबारगी बारिश के तमाम शास्त्रीय रागों के सौंदर्य को स्थगित कर देता है। मृत देह पर बारिश की बूंदें और झुरिया के आँसू की बूंदें दरअसल वर्चस्वकारी, शोषणकारी परम्परों पर गर्व करने वाली पीढ़ी के लिए एक कर्ज की तरह दिखलाई देती है। और जब पंडित घासीदास दुखी के पैर में दूर से रस्सी का फंदा डालता है और उसे खींचते हुए कूड़े के ढेर पर फेंकता है जहाँ पहले से ही कई पशुओं के कंकाल पड़े हुए हैं तब सिनेमा के दृश्य में यह क्षण जिस तरह से स्थिर होता उससे लगता है कि हमारी तमाम उपलब्धियों जिस पर हम गर्व करते हैं उन सब का अचानक से स्थगन हो गया है।

सत्यजित राय के जन्मशताब्दी वर्ष में सत्यजित राय की फिल्मों को देखना और उन पर बात करना दरअसल, 1950 से लेकर 1990 तक के भारत को जानने, समझने की एक दृश्य-गाथा से गुजरना है। इक्कीसवीं सदी में युवा हुई पीढ़ी के लिए इससे गुजरना इसलिए भी आवश्यक है कि, वह जान सकें कि आज जिस भारत की वे तस्वीर देख रहे हैं उसकी पृष्ठभूमि में कैसा भारत था। सत्यजित राय की फिल्मों में एक यथार्थ भारत की तस्वीर है, जिससे हम प्रेम कर सकते हैं, जिसकी आलोचना भी हम कर सकते हैं। ■

डॉ. रुचिरा ढींगरा

एम.ए., एम.फिल, पीएच.डी की उपाधि प्राप्त की। हिंदी-अंग्रेज़ी में वाकसेतु अनुवाद स्नातकोत्तर डिप्लोमा। भारतीय काव्य शास्त्र, व्याकरण प्रबोधिनी, हिंदी भाषा और लिपि का इतिहास, गद्यकार बच्चन, प्रेमचंद की नारी केन्द्रित कहानियां पुस्तकें प्रकाशित। 6 पुस्तकें सम्पादित। समसामयिक विषयों पर 4 दर्जन आलेखों का विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन। यूजीसी सी.ई.सी व्याख्यान (यूट्यूब पर उपलब्ध)। बी.आर.अम्बेडकर पीस अवॉर्ड, वुमन आइकॉन अवॉर्ड, वुमन एमपारमैन्ट अवॉर्ड तथा सरस्वती रत्न सम्मान से पुरस्कृत। सम्प्रति - प्रोफेसर, शिवाजी कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

सम्पर्क : ms.ruchira.gupta@gmail.com

शोध-आलेख

अस्तित्व की तलाश में सिमरन

डॉ. मोनिका देवी कृत जीवनी परक लघु उपन्यास एक सौ बारह पृष्ठों तथा इक्कीस छोटे-छोटे अध्यायों में विभक्त किन्नर सिमरन द्वारा कथित उसके दुर्वह, अभावग्रस्त जीवन की कहानी है। कृति की संरचना के विषय में लेखिका की स्वीकारोक्ति अवलोकनीय है- "मैंने यह (जीवनी परक) उपन्यास लिखने से पहले किन्नरों की जिंदगी पर आधारित कई उपन्यास पढ़े, जिनमें यथार्थ की झलक देखने को मिलती है। किन्नर समाज से जुड़ी 'शबनम मौसी' और 'दरमियान' आदि फिल्में देखीं। यहां से बहुत सारी जानकारी मिली। मैंने अपने क्षेत्र के किन्नरों से बात करनी चाही। पर सबने थोड़ा-थोड़ा ही बताया। सोशल मीडिया के माध्यम से मेरी मुलाकात सिमरन सिंह से हुई। उनकी बातचीत और मुलाकात से बहुत कुछ जानने को मिला। इनके छुए-अनछुए दर्द का अहसास अब एक किताब के रूप में बनकर आपके सामने है।"[1](अस्तित्व की तलाश में सिमरन, मोनिका देवी, माया प्रकाशन, कानपुर-208021 उ.प्र., प्रथम संस्करण 2019, आमुख, प्रथम पृष्ठ) वैश्विक स्तर पर नारी विमर्श, दलित विमर्श, प्रवासी विमर्श, वृद्ध विमर्श आदि की भांति ही समाज की मुख्यधारा से कटी, गरीबी की सीमा रेखा पर उपेक्षित-तिरस्कृत जीवन जीते इस तृतीय लिंगी जनों के प्रति भी अब विचारकों में जिज्ञासा जगी है तथा उनसे संबद्ध कई कृतियों की रचना भी हुई है। विवेच्य कृति में पूर्व कथित तथ्यों से इतर किसी विशेष तथ्य का उल्लेख नहीं हुआ है किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य सबसे किंचित भिन्न किन्नरों के अंतर्गत में उमड़ती उनके अस्तित्व संबंधी शंका रही है। यथार्थ में कल्पना को समज्जित कर लेखिका ने सिमरन को कथा कथक के रूप में प्रस्तुत कर जनसामान्य को उनके पीड़ामय जीवन से अवगत कराने का प्रयास किया है। उनके लिए

उपहासात्मक अभिधानों तथा बधाई लेने आने वाली टोलियों के रंग-पुते चेहरों, भड़कीले वस्त्र, एक विशिष्ट प्रकार में ताली बजाने, हंसी मजाक करने, गाने नाचने के कारण सामान्यत: उनके सुखी जीवन की भ्रांति होती है, जबकि वास्तव में उनका जीवन उतार-चढ़ाव, अभावों, पीड़ा और तिरस्कार का एक ऐसा अंतहीन सिलसिला होता है जो उनके जीवन पर्यंत चलता रहता है।

जीवन की विषमताओं की भुक्तभोगी के रूप में सिमरन कहती है- "किन्नर का जीवन सरल नहीं होता, जीते भी हैं रो-रोकर। आंसू ही सहारा बन जाते हैं, लेकिन अपना कहने के लिए कोई हाथ आगे नहीं बढ़ता।"[2] (पृष्ठ 23) किन्नर सिमरन का जीवन भी अपवाद नहीं है। नर किन्नर के रूप में जन्मा 'शत्रोहन' (शत्रु का नाश करने वाला) माता-पिता की प्रथम संतान होने के कारण असीम प्यार-दुलार में नर और नारी दोनों दृष्टियों से उसके अपूर्ण शरीर- जैविक विकलांगता की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया तथापि उसकी विशिष्ट चाल, स्त्रियोचित रुचियां - श्रृंगार, गृह कार्य, मर्दानी आवाज़ उसे सामान्य से पृथक कर देती थी। किन्नरों की भीख मांगती टोली, उनकी वेशभूषा एवं हावभाव, लड़कों की भीड़ द्वारा उन्हें छक्का कहकर चिढ़ाना उसकी बाल बुद्धि से परे था। उनके प्रति उसकी जिज्ञासा का समाधान किसी ने नहीं किया और वह उसके मन में घुमड़ती रही। आठ वर्ष की अल्पायु में ही अपने साथियों, सहपाठियों आदि की कुत्सित दृष्टि व व्यवहार; मामू, छक्का आदि संबोधनों और स्वयं में उभरते लक्षणों के कारण वह यह जानने के लिए बेचैन होता है कि वास्तव में वह कौन है? नर-नारी अथवा दोनों दृष्टियों से अधूरी देहयष्टि वाला किन्नर? अपनी बीमारी में उसे ग्रह कार्यों को सुरुचिपूर्ण ढंग से निबटाते देख मां उत्फुल्ल हो उसे बेटी

संबोधन देने के लिए तो तैयार थी किंतु लड़कियों की तरह कपड़े पहनने, लंबे बाल रखने, श्रृंगार प्रसाधनों का प्रयोग करने की अनुमति देने के लिए नहीं।

किन्नर रूप में जन्मे बालक को सर्वप्रथम अपने परिवार द्वारा विस्थापित किए जाने का दंश भोगना पड़ता है। शारीरिक विकलांगता से युक्त संतान की चिकित्सा के लिए अपार संपत्ति व्यय करने तथा सभी संभावित प्रयास करने वाले माता-पिता अपने स्वाभिमान, मर्यादा और सामाजिक प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए निर्ममतापूर्वक उसे त्याग देते हैं। जन्मते ही बैरंग लौटाने, किसी निर्जन स्थान या झाड़ी-नाले-गटर में फेंक आने, किसी किन्नर समूह को सौंप देने के सभी संभावित तरीके अपनाने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं होता। यह सब तब और भयानक लगता है जब उस मासूम नवजात को अपनी स्थिति का कोई बोध ही नहीं होता। सिमरन को प्रारंभ में अपने पैतृक घर से अलग नहीं होना पड़ा। वह शत्रोहन नामधारी बालक के रूप में बड़ा होता रहा। उसे लड़कों की वेशभूषा पहनाई जाती थी। उसके माता-पिता उसकी जैविक विकलांगता से अनभिज्ञ थे या फिर जानकर उसको नजरअंदाज करते रहे। सिमरन के अपने प्रति किए गए दूसरे व्यक्तियों के दुर्व्यवहार संबंधी प्रश्नों का उत्तर मां नहीं देती थीं और पिता उसकी बात सुनना ही नहीं चाहते थे। वे उसके शरीर और हाव-भाव में उभरते लक्षणों से संभवतः उसकी अपूर्णता को समझ गए थे अतः स्वयं उसके प्रश्नों को अनसुना करने के अतिरिक्त वे उसे किसी अन्य से भी उस विषय या घटना को साझा करने से मना करते थे। मां-पिता तथा छोटे भाई-बहनों से असीम प्रेम होने के कारण सिमरन परिवार में मिलने वाले तिरस्कार और प्रताड़ना को सहती रहती थी। छोटे भाई आवारा, दुष्ट और उत्पाती थे। मां सिलाई का काम करने के बाद भी पर्याप्त न कमा सकने से कर्ज लेने की आदी थीं और काम छूटने, पीने-पिलाने के आदी पिता का लाड़ अब मारपीट में बदल चुका था। बड़ी संतान होने के कारण सिमरन सब के प्रति स्वयं को उत्तरदायी मानती थी। उसने अपने साथ होने वाले अमानुषिक व्यवहार को बार-बार झेला। परिवार के साथ रहते हुए घोर आर्थिक विपन्नता सहनी पड़ी। उसके पिता ठाणे (महाराष्ट्र) की एक दवा की कंपनी में मशीन ऑपरेटर का काम करने के साथ-साथ सदस्यों के अपने परिवार की गाड़ी चलाने के लिए नाश्ते की एक छोटी सी दुकान चलाते थे। मां भी सिलाई का काम करती थी। हड़ताल के कारण पिता की नौकरी छूट गई। नाश्ते की दुकान तथा माता की सिलाई के काम से घर का

हिजड़े से हिजड़े पैदा नहीं होते। यह सभ्य समाज की देन है। हम स्त्री और पुरुष से ही पैदा होते हैं बस वह हमको अपना नहीं पाते और त्याग देते हैं। ऐसा क्यों। इस क्यों का जवाब आप पर छोड़ती हूँ। मिल जा तो समाज को बताना जरूर।

खर्च न चलने से सिमरन को अल्पायु में एक कंपनी में काम करने के साथ लॉन की घास काटने, घरों की सफाई और बर्तन मांजने, माला गूंथने का काम करना पड़ा किंतु फिर भी घर की स्थिति जर्जर ही बनी रही। कम्पनी में काम करते हुए वह किन्नरों और समलैंगिकों के संपर्क में आई जिससे उसे किन्नरों की सहायतार्थ सक्रिय 'हमसफर ट्रस्ट' तथा 'उजेफा ' संस्थाओं के अंतर्गत एड्स के प्रति जागरूकता अभियान में कुछ दिन काम मिल गया किंतु वह भी स्थायी नहीं रहा। काम छूटने पर पिता और भाइयों ने उसे बुरी तरह मारा-पीटा ही नहीं घर से भी निकाल दिया था। अर्थ लोभी मां उससे केवल पैसों के लिए संबंध रखती थी। धनार्जन के लिए उसे गलत तरीके से पैसे कमाने के लिए भी प्रोत्साहित करती रही। समय-समय पर अपनी बीमारी और अत्यावश्यक काम का बहाना कर उससे पैसे मांग लेती थीं किंतु लौटाने का वचन देने के बाद भी कभी लौटाती नहीं थीं। इतना ही नहीं उसके घर जाकर आत्महत्या करने की धमकी तक दे देती थीं। घर से निकाले जाने पर दर-दर भटकते समय बीमार होने पर या बलिया में रहते हुए गांव का घर देने का प्रस्ताव करने पर वे कन्नी काट लेती थीं। मां की निर्ममता सिमरन के मन की अस्तित्व की शंका को उभारती है। अपनी मां को अन्य लोगों की मांओं की अपेक्षा ममत्वहीन पाकर वह हिल जाती है किंतु उससे, पिता और भाई से स्वयं को काट नहीं पाती। एकाकी क्षणों में उनकी स्मृति उसे विह्वल कर देती है। "जब मां के साथ थी मां लड़ती ही रहती थी। भाई का मारना-पीटना, तिरस्कार करना। सब कुछ इसलिए बर्दाश्त किया क्योंकि वे मेरे अपने थे।"[3] (पृष्ठ 93) उपन्यास में अभिभावकों को

अन्त तक आर्थिक सहायता देते रहने और उनके संपर्क के लिए तरसते रहने का प्रसंग अतिश्योक्तिपूर्ण और अस्वाभाविक है। प्रायः सभी प्रसंगों में इनकी पुनरावृत्ति खटकती है।

किन्नरों का जीवन घोर अर्थाभाव में व्यतीत होता है। बधाई गाने के अतिरिक्त रेल के डिब्बे, चौराहों पर भिक्षा मांगना, देह व्यापार में संलग्न होना आदि उनके जीवित रहने की अनिवार्यता बन जाते हैं। किन्नर गुरुओं द्वारा भी उन्हें इन कार्यों के लिए विवश किया जाता है क्योंकि उनकी कमाई का चौथाई अंश वे अपने लिए ले लेते हैं। इस विषय में सिमरन की स्पष्टोक्ति से उसकी पीड़ा ज्ञात होती है। "हम किन्नर पाई-पाई को तरसते हैं। आर्थिक रूप से भी शोषण होता है। जब तक पैसे पास होते हैं तब तक हर रिश्ता हमसे जुड़ना चाहता है। जब रुपया खत्म हो जाता है तब जिंदगी तमाशा बन जाती है। कोई भी आकर हमें गाली-गलौज देकर निकल सकता है।"[4] (पृष्ठ 97) सिमरन की गुरू बेला उसकी रुग्णावस्था और आर्थिक विपन्नता से अवगत होते हुए भी प्रति माह पांच हजार रुपये लेने में संकोच नहीं करती। दिवाली मांगने जाने पर अधेड़ावस्था का दुकानदार कुछ देता नहीं पर चिड़चिड़ाता जरूर है। "तुम लोगों को कौन पैदा करता है। किसलिए पैदा हो गए। कमाकर तो खाते नहीं हो। मुंह उठाकर मांगने चल देते हो।"[5] (पृष्ठ 102) इन लोगों पर कोई सहजता से विश्वास भी नहीं करता और कोई इन्हें अपने घर में नौकरी भी नहीं देता।

किन्नर घर से विस्थापित किए जाने का दंश तो भोगते ही हैं समाज भी इन्हें अपनी मुख्यधारा से काटकर हाशिए पर रहने को विवश कर देता है। किसी निर्जन, अनजाने स्थान पर अपनी पृथक बस्ती में छोटे-छोटे कमरों में अपने जैसों और गुरु के साथ अपनी ही मान्यताओं और विश्वासों में जीता यह वर्ग अपने विषय में किसी को कुछ नहीं बताता। जिस समाज ने उसे बहिष्कृत कर दिया हो उसे ही वह अपना हमदर्द कैसे समझ सकता है? वास्तविकता तो यह है कि उन्हें अपने ही समाज में अपेक्षित संरक्षण नहीं मिलता। उनके लिए गुरु का शिष्यत्व स्वीकारना अनिवार्य होता है पर कई बार उनका व्यवहार भी औदार्य रहित रहता है। चंपा गुरु सिमरन को भीख मांगने का धंधा प्रारंभ कराती हैं तो बेला गुरु शराब पीकर उसे मारती-पीटती और उसका आर्थिक शोषण करती हैं तथापि कुछ सौहार्द्रपूर्ण किन्नर भी होते हैं। नगमा, शिल्पा, सुभद्रा आदि के प्रति सिमरन कृतज्ञता ज्ञापित करती है। समाज के लिए किन्नर यौनिक तनाव दूर करने का सर्वाधिक सहज उपलब्ध प्राणी होते हैं। सिमरन शैशवावस्था में अपने सहपाठियों और खेल के साथियों के दुर्व्यवहार का शिकार होती है। दुकान पर बैठते हुए उसके पिता के व्यस्क मित्र उसका यौन शोषण करते हैं। उनके जघन्य कृत तथा उनके द्वारा लगाए गए मिथ्यारोप से अवगत पिता अर्थाभाव में दुकान चलाने की विवशता के कारण खून का घूंट पीकर चुप रह जाते थे। मां से भी सांत्वना के स्थान पर निर्ममता से की जाने वाली पिटाई उसे हतोत्साहित करती है। उत्तर प्रदेश में भी बाजे वाले, टेंट वाले जिनके पास भी वह घर मांगने जाती है वे उससे 'हम बिस्तर' होने की मांग करते हैं। "अब सबसे बड़ी समस्या सिर पर छत की हो गई। जिससे भी बात करती वही कहता घर मिल जाएगा लेकिन मुझे तू क्या देगी। इसे तू क्या देगी का मतलब सीधा-सा है। उनका हम बिस्तर बनना। जो मुझे कतई मंजूर नहीं था।"[6] (पृष्ठ 103) लोग उनसे यौन तृप्ति के लिए संपर्क रखते हैं किंतु उनसे विवाह कर घर बसाने की कल्पना तक नहीं करते। राजवीर जिसे सिमरन ने विपत्ति में सहारा और संरक्षण दिया था और जिसने कभी उसका हमसफर होने का दम भरा था अंततः उससे इसलिए संबंध तोड़ लेता है क्योंकि उसे संतान चाहिए थी जबकि सिमरन प्रजनन में असमर्थ थी। सामान्य स्त्रियों की भांति पुरुष संसर्ग और मातृत्व की आकांक्षा होते हुए भी देह के अधूरेपन के कारण उसके मन प्राण अतृप्त रह जाते हैं। वह कहती है- "बाहर की दुनिया में हम जैसों को सिर्फ एक सामान समझा जाता है जिसका उपयोग करके फेंक दिया जाता है। लोग अपना तनाव दूर करने के लिए हमारे पास आते हैं और रात के कुछ घंटे बिताकर चले जाते हैं। ऐसा नहीं है कि किन्नरों के अरमान नहीं होते, इच्छाएं नहीं होती। सब कुछ होता है लेकिन कोई किन्नर के साथ विवाह करके घर नहीं बसाना चाहता।"[7] (पृष्ठ 93) यह निर्विवाद है कि यदि किन्नर बालकों को सामान्य बच्चों की भांति विधिवत भेदभाव रहित शिक्षा दी जाए जिससे वे अपना व्यवसाय कर सकें, उन्हें सरकारी नौकरियां मिल जाए तो वे निश्चित ही सामान्य व्यक्तियों के समान या उनसे अधिक सफल हो सकते हैं। इस दृष्टि से किया गया सर्वेक्षण भी सिद्ध करता है कि अनेक किन्नरों ने राजनीति, समाज, साहित्य, डॉक्टर और कानून इत्यादि क्षेत्रों में अपनी पहचान बनाई है तथा आज प्रतिष्ठित पदों पर कार्यरत रहते हुए सम्मानीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। स्कूल-कॉलेजों में भी इनके लिए स्थान आरक्षित होते हैं। शौचालय, पुस्तकालयों, मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था होती है।

स्वयं भी किन्नर छात्र अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो रहे हैं तथा अनेक संस्थाओं 'कम आउट', 'क्राइ' आदि द्वारा अपनी बात दूसरों से साझा कर रहे हैं। सिमरन को शिक्षण संस्थानों में भी भेदभाव का सामना करना पड़ा। उसके लिए बैठने के लिए कोई स्थान नहीं था। वह घर से बोरा ले जाकर गढ्ढेदार कच्ची जमीन में अपने बैठने का प्रबंध करती थी। साथियों का व्यवहार भी अभद्र होता था। दूसरी कक्षा से ही उसे उनकी कुत्सित दृष्टि का सामना करना पड़ा था जिससे उसके मन में दूसरों से किसी तरह भिन्न होने की शंका उमड़ने-घुमड़ने लगी थी। शिक्षा के प्रति रुचि और कुशाग्र बुद्धि होने पर भी परिवार की आर्थिक विपन्नता ने उसके आगे बढ़ते कदमों में बेड़ियां डाल दी। नौवीं कक्षा में एक बार अनुत्तीर्ण होने के बाद वह कठोर परिश्रम, मिस जोशी और मिस कुलकर्णी जैसे अध्यापकों तथा कुछ संवेदनशील सहपाठियों के सहयोग से दूसरी बार अच्छे अंकों में उत्तीर्ण हुई। परायी कृपा और आर्थिक सहायता पर आश्रित रहना उसके आत्मसम्मान को स्वीकार ना था अतः अपने परिश्रम से आगे बढ़ने का संकल्प कर वह स्वयं को जीवन के प्रतिक्षण परिवर्तित होती स्थितियों के झंझावात में छोड़ देती है। शिक्षा प्राप्ति की ललक उसके अंतर्मन में निरंतर बनी रहती है। सोशल मीडिया के संपर्क ने उसे जीवन के नवीन आयामों से परिचित कराया। प्रबुद्ध व्यक्तियों के संपर्क ने शिक्षा के प्रति उसे पुनः उन्मुख किया। उसने अपनी छूटी शिक्षा का दामन पुनः पकड़ा और मौलिक लिखने का प्रयास किया। वृंदावन शोध संस्थान ने उसके आलेख को पुरस्कृत कर तथा मंच पर सम्मानित कर उसे प्रोत्साहित किया। पटना की गीता तथा 'आकांक्षा' संस्था की ममता के सद्भावना पूर्ण सहयोग से वह सकारात्मक जीवन की डगर पर चल पड़ी। वह झुग्गी झोपड़ी में रहने वाले, कचरा बीनने वाले बच्चों को पढ़ा कर उनका जीवन संवारने का प्रयास करने लगी। लेखिका ने बताया है कि वह स्वरोजगार स्थापित करके अपने को स्वावलंबी बनाने की इच्छुक है। यद्यपि उसे अभी अपना गंतव्य दूर लग रहा है तथापि वह आश्वस्त है कि एक दिन समाज यह समझ जाएगा कि किन्नर केवल नाचना, गाना या देह व्यापार ही नहीं कर सकते बल्कि "किन्नर सबसे पहले एक इंसान हैं हमको अवसर मिले तो पढ़-लिखकर रोज़गार कर सकते हैं। किन्नर भी बहुत कुछ बन सकता है। उसको तलाश है तो सिर्फ अपनेपन की। उन हाथों की जो आगे आकर कहें यह हिंजड़ा नहीं - मेरा बेटा या बेटी है। ऐसा कोई मिल जाए तो हम अपना भाग्य संवार सकते हैं।"[8] (पृष्ठ 100)

साहित्यिक गोष्ठियों में विचार-विमर्श तथा किन्नरों के जीवन, मान्यताओं, समस्याओं और उनके संभावित समाधान के ऊपर इतना कहा-लिखा जा चुका है कि प्रायः अब कुछ और अकहा शेष नहीं रहा है। विवेच्य कृति में किन्नर समुदाय में प्रचलित 'निर्वाण' और 'गोदभराई 'की प्रथाओं का उल्लेख प्रायः अन्य रचनाओं में उपलब्ध नहीं है। किन्नर सिमरन को इनका पालन करना पड़ा जिसका विस्तृत उल्लेख उसने बहुत रोचक ढंग से किया है। "हमारे किन्नर समाज में निर्वाण का संस्कार बहुत ही महत्वपूर्ण होता है। यह एक ऐसा संस्कार है जिसमें हमें पूर्ण रूप से स्त्री बना दिया जाता है। इस क्रिया को कहीं-कहीं छिबरना भी कहते हैं। पहले यह क्रिया दाईयां करती थीं जो किन्नर ही होती थीं। बिना किसी दवाई और सुई के इस क्रिया को अंजाम दिया जाता था। अब इस क्रिया को डॉक्टर करने लगे हैं। एनस्थेशिया के बाद डॉक्टर ऑप्रेशन से इस क्रिया को पूर्ण करता है। डॉक्टरों से करवाने में खर्चा आता है। इस खर्च को वह किन्नर चुकाता है जो अपने नाम पर दूसरे किन्नर को चेला बनाता है।"[9] (पृष्ठ 66-67) इसी प्रकार गोद भराई की रस्म का उल्लेख भी विस्तृत "किन्नर समाज में 'गोद भराई' एक ऐसा संस्कार है जिसमें बहुचरा माता की उपासना की जाती है और कलश भरा जाता है। उस हिंजड़ा का भगवान से विवाह होता है जिसकी गोदभराई की जा रही है या गोदभराई की जाएगी। उसे दुल्हन की तरह सजाया जाता है। पूरे सोलह श्रृंगार किए जाते हैं।"[10] (पृष्ठ 75)

प्रातः उठकर गुरु की चरण वंदना, ढोल मंजीरे को प्रणाम करना, बड़ों के सामने नीचे बैठना, बधाई गाने से पूर्व देवी का गीत गाना, नाचने के साथ गाना आना तथा परस्पर मतभेदों में गुरु के निर्णय का मान्य होना आदि छोटी-छोटी परंपराओं का उल्लेख भी उपन्यास में मिलता है। सिमरन ने यह भी बताया है कि हर प्रदेश के किन्नरों के इष्ट भी अलग-अलग होते हैं जैसे महाराष्ट्र में परशुराम की माता रेणुका देवी (मलम्मा) तथा गुजरात और राजस्थान में बहुचरा देवी की अभ्यर्थना की जाती है। प्रत्येक किन्नर के लिए जीवन में एक बार बहुचरा देवी का कलश भरना अनिवार्य होता है। यह स्मरणीय है कि उक्त उल्लेख सिमरन के निजी जीवन से जुड़े प्रसंगों से आए हैं। उपन्यास में उसके द्वारा जनमानस में किन्नरों के संबंध में व्याप्त भ्रांतियों का निराकरण भी किया गया है यथा मृत्योपरांत उन्हें अर्धरात्रि में घसीटते, उल्टा लटकाकर, झाड़ू या चप्पल से मारते हुए ले जाना, अनजाने स्थान पर कब्र में दफनाने को वे मात्र अफवाह मानती है। उसके अनुसार मृतक किन्नर के

धर्म, ओहदे और इच्छानुसार उसका अंतिम संस्कार किया जाता है। अधिकांशतः दफनाए जाने की प्रथा प्रचलित है जिसके लिए भूमि की व्यवस्था किन्नर को अपनी मृत्यु से पूर्व करनी पड़ती है। मृतक की आत्मा को शांति मिले इसलिए रोते नहीं और तेरहवीं आदि संस्कार भी नहीं किए जाते, केवल तीसरे दिन (तीजा) को भोजन कराया जाता है और मृत्यु के चालीस दिन (चालिसवां) गरीबों को भोजन और मृतक आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना की जाती है।

किन्नरों के उद्दंड, झगड़ा फसाद करने तथा अपेक्षित नेग ना मिलने पर अश्लीलता पर उतर आने की भ्रांति होने से भी सामान्य जनता इनसे कतराती हैं। वस्तुतः जैसे एक पुरुष या नारी के पथभ्रष्ट होने या दुराचारी होने पर संपूर्ण नारी या पुरुष वर्ग को दोषी नहीं ठहराया जा सकता उसी प्रकार किन्नरों में भी अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के किन्नर होते हैं। सबको एक ही लाठी से नहीं हांका जा सकता।

विवेच्य कृति में परिवेश और वातावरण के नाम पर सिमरन के पारिवारिक जीवन, उसकी रुग्णावस्था, बलिया के उनके जीवन को ही चित्रित किया गया है क्योंकि सिमरन की जीवन यात्रा के विभिन्न पड़ावों के अंकन द्वारा उसके और उसके समान अन्य किन्नरों के अंतर्मन की कश्मकश का अंकन करना ही लेखिका का मंतव्य रहा है। निर्वाण, गोद भराई, बीमारी, बकरी पालने आदि के प्रसंग किंचित लंबे होने के कारण नीरस हो गए हैं। इन्हें संकेतात्मक रूप में व्यक्त करके छोटा किया जा सकता था।

उपन्यास का अभिव्यक्ति पक्ष भी अपेक्षित स्तर का नहीं है। सिमरन की कहानी उसी की जुबानी प्रस्तुत किए जाने के कारण एक साहित्यिक कृति की प्रभविष्णुता का अभाव खलता है। कथा कथक सिमरन के जीवन के उतार-चढ़ावों के साथ कथा आगे बढ़ती जाती है। प्रत्येक प्रसंग उसके अंतर्मन में कुलबुलाते 'अस्तित्व की तलाश' को कुरेदते और गहराते जाते हैं और सारे किन्नर वर्ग से जुड़कर उनकी व्यथा, तिरस्कृत बहिष्कृत, अभावजन्य जीवन को अभिव्यंजित करते हैं। आपबीती सुनाते हुए पुनरावृत्ति खटकती है और सपाट बयानी उबाती है जिससे पाठक उसमें पूरी तरह रम नहीं पाता।

उपन्यास की भाषा एक सामान्य स्तर के शिक्षित की सामान्य भाषा है। आनंदानुभूति, अंतरात्मा, बहिष्कार, दुष्टात्मा जैसे कहीं-कहीं प्रयुक्त शब्द भी भाषा को गरिमा प्रदान करने में अक्षम हैं। उर्दू के शब्द अपेक्षाकृत अधिक प्रयुक्त हुए हैं यथा जन्नत, ख्याल, मज़बूर, फरिश्ता, ज़ेहन, बुखार, खामोश, खामियाज़ा, मर्दानगी, हौसले, मकसद इत्यादि। समाज में व्यक्तियों द्वारा सामान्यतः प्रयुक्त स्टील फैक्ट्री, कंपनी, नेल पेंट, सैक्स ट्रांसजेंडर, लेस्बियन रिपोर्ट, रेलवे स्टेशन आदि शब्द भाषा में घुले-मिले हैं। जल ही जीवन है, भूखे पेट भजन नहिं होत गोपाला जैसी उक्तियाँ तथा आग बबूला होना, ठेका ना लेना, मवाली छाप, फूटी आंख न सुहाना, बखिया उधेड़ना, शातिर खिलाड़ी होना, तिल का ताड़ बनाना, घर सिर पर उठाना, सिर पर छत न होना आदि मुहावरे यथास्थान प्रयुक्त हुए हैं किन्तु इनसे भाषा को अतिरिक्त समृद्धि नहीं मिली है। कृति के अंतिम अंश में देवी का गीत पूरा उद्धृत है- "माई भजन बड़ी दूर मैया मोरी आशा न तोड़ो" जो अनावश्यक है क्योंकि सोहर गाने से पूर्व किन्नरों को देवी का गीत गाना अनिवार्य होने का संकेत पहले दिया जा चुका है। कहीं-कहीं पात्रानुसार भाषा का रूप बदला है जैसे बेला किन्नर और बलिया की किन्नर गुरु की बोली में तल्खी और कड़क है जो उनके व्यवसाय के अनुरूप है। सिमरन को पतली आवाज़ में गाते सुनकर बलिया की किन्नर गुरु उसे डपटते हुए कहती हैं- "हे मरजानी तू औरत नहीं है, एक हिंजड़ा है। क्या धीमी, पतली आवाज़ से गा रही है। हिजड़ा हो तो हिजड़ों के जैसी रहो। समझी।"[11] (पृष्ठ 96) दुर्दिन में सिमरन को संरक्षण देने वाली पंजाबिन की भाषा कहीं सामान्य व्यवहार की है तो अन्यत्र 'पुत्तर' जैसे शब्दों का प्रयोग उसके पंजाबी होने की साक्षी देता है। कंपनी में काम करते हुए सिमरन का संपर्कागत समलैंगिक बॉबी स्वयं तो रुक्ष है ही वह सिमरन को भी भद्रभाषा का प्रयोग करने से रोकता है तथा 'आप' और 'जी' के स्थान पर 'तू' कहने की सम्मति देता है क्योंकि उसे विश्वास है कि इस वर्ग को इज्जतदार बनकर भी समाज की प्रतारणा ही मिलती है। फायदा बेशर्म बनने में ही है। उपन्यास का अंत भी अस्वाभाविक ढंग से हुआ है। पृष्ठ 105 के साथ लगता है कि उपन्यास का अंत होने वाला है किंतु फिर से पृष्ठ 106 से इक्कीसवां अध्याय शुरू हो जाता है जिसमें पुरानी अधिक और नई नाममात्र की कथा है। अंत तक सिमरन की अस्तित्व की तलाश पूरी नहीं होती और वह उसका समाधान खोजने का दायित्व पाठकों पर छोड़ देती है। "हिजड़े से हिजड़े पैदा नहीं होते। यह सभ्य समाज की देन है। हम स्त्री और पुरुष से ही पैदा होते हैं बस वह हमको अपना नहीं पाते और त्याग देते हैं। ऐसा क्यों। इस क्यों का जवाब आप पर छोड़ती हूँ। मिल जा तो समाज को बताना जरूर।"[12] (पृष्ठ 112) समाहारतः विवेच्य उपन्यास एक अत्यंत सामान्य स्तर की रचना है और वृहत्तर परिवर्तनों और संशोधनों की मांग करती है।■

डॉ. मुकेश कुमार मिश्र

17 जुलाई 1980 को बस्ती, उत्तरप्रदेश में जन्म। हिंदी साहित्य में एम.ए., एम.फिल तथा पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की। प्रकाशित पुस्तकें 1. प्रसाद एक दृष्टि, 2. सप्तक कवि और उनकी सप्तक कविताएं, 3.आधुनिक हिंदी कविता के कुछ हस्ताक्षर खंडन (एक), 4. फीजी हिंदी काव्य साहित्य। 11वें विश्व हिंदी सम्मेलन, मॉरीशस में सहभागिता। तमिलनाडु हिंदी साहित्य अकादमी द्वारा हिन्दी सेवी सम्मान से पुरस्कृत। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। सम्प्रति : प्राचार्य, करमादेवी स्मृति पीजी कॉलेज, संसारपुर बस्ती। सम्पर्क : mishramukesh602@gmail.com

शोध-आलेख

काव्य-वीणा का एक तार टूट गया

कुँवर नारायण हिन्दी नव्य धारा के आधार स्तम्भों में एक ऐसे स्तम्भ थे। जो जीवनभर काव्य की नई धारा को सहेजते रहे। उन्होंने कविता को जीवन का मुख्य आधार माना था। अज्ञेय जी द्वारा 'तीसरे सप्तक' में संकलित होने के बाद आधुनिक काव्य के दायित्व का निर्वहन करते रहे। ज्ञानपीठ, भारत-भारती, व्यास, शलाका और साहित्य अकादमी के उत्कृष्ट सम्मानों से विभूषित कुँवर नारायाण की पहचान ऐसे समर्थ कवियों में थी, जो कल्पना को कविता के सहायक और यथार्थ को कविता का प्राण-तत्व मानते थे। उनकी इसी दृष्टि को पहचानकर आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी ने अपनी पुस्तक "नयी कविता" में उन्हें 'स्वच्छ हृदय की विकासोन्मुख नव चेतना का कवि' माना था। 'कोई दूसरा नहीं', 'चक्रव्यूह', 'परिवेश-हम तुम', 'अपने-सपने', 'आत्मजयी', 'वाज्रश्रवा के बहाने' जैसे काव्य संग्रहों में प्रयोग कुछ नया विशेष लेकर ही कविता की प्रयोगधार्मिता साथ दस्तक देते रहे। दर्शन, यथार्थ, संवेदना, मानवीयता, उनकी कविता में हमेशा केन्द्र में रही। उनकी कविता का पैरामीटर हमेशा सामान्य गति से चलकर लक्ष्य की पराकाष्ठा तक पहुँचा। वह कल्पना और यथार्थ को कविता की धुरी मानते थे। उनकी कल्पनाशीलता भी हमेशा यथार्थ जैसी लगती है। उनकी कविता 'खामोशी हलचल' इसकी पूर्ण सार्थकता प्रमाणित करती है।

टिक-टिक कर एक घड़ी चुप्पी को कुचल रही
लगता है दिल की धड़कन को निगल रही,
कैसे कुछ अपने आप गिर जाये, पड़ जाये
खनकर-मनककर लड़ जाये, भिड़ जायें।

कुँवर नारायण जी का काव्य रचना संसार हमेशा काव्य रचना के लिए चर्चित रहा। उस पर गौर किया जाये तो देखने को मिलेगा कि वह काव्य के मुक्त छन्दों के प्रति विशेष आग्रही नहीं दिखता। वह सदैव प्रयोगशीलता और प्रामाणिकता के कवि रहे। नये काव्य के मध्य, प्राचीन काव्य के लयबद्ध काव्य की अभिव्यक्ति को सदैव अपनी रचनाधर्मिता से जोड़े रहे। उनका स्वयं का मानना था - 'यथार्थ को भोगकर कल्पना' के सरोवर में डुबकी लगायी जाये तो कल्पना की यथार्थ के कुछ निकट अवश्य नही आयेगी।" वह अन्य छायावादी कवियों की तरह कल्पना के लिए कोई बड़ा कैनवास नहीं बनाते, बल्कि सहज, सरल भाषा तथा शास्त्रीय छन्दों से बिल्कुल अलग नवीन सृजित छन्द लयों के सहारे उसे परिभाषित करते है। उनकी कविता 'जाड़ों की एक सुबह' की कुछ पंक्तियां इसकी गवाह है -

शबनम सी भीगे तन/
सुमन खड़े सिहर रहे,
चितकवरी बाधिन सी/
भाग रही शीत रात
लुक-छिपकर आशंकित/
लहराती पौधों में
विछलन सी चमकदार/
छोड़ गयी कोहरे की
केचुल अपनी पीछे/डँसती ठण्डी बयार।

वह अंग्रेजी साहित्य के विद्यार्थी रहे। आस्कर वाइल्ड, वड्र्सवर्थ, जान क्रिटस आदि को उन्होंने पढ़ा, पर खासकर वाइल्ड और वड्र्सवर्थ से वह ज्यादा प्रभावित रहे। वह कविता को जीवन की अमूल्य निधि के रूप में स्वीकार करने वाले कवि थे। वह खूब व्यस्तताओं के बावजूद कविता लिखना नहीं भूलते थे। स्वयं कहते हैं - *फिक्रे दुनियां में सर खपाता हूँ/कहाँ और ये बवाल नही।*

कुँवर जी का काव्य रूप हमेशा वर्तमान समय के सापेक्ष चलता रहा। वह अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों काव्य सन्दर्भों से खूब परिचित रहे। 'जो सोता है' उनकी एक चर्चित कविता रही है जिसमें वह जीवन मूल्यों के सभी प्रतिमानों को काल की परिधि में स्वंय रचते हैं -

जो सोता है उसे सोने दो/वह सुखी है
जो जगता है उसे जगने दो/उसे जागना है

जो दुःखता है उसे दुखने दो/उसे पकना है
जो जाता है उसे जाने दो/उसे जाना है
जो मिटता है उसे मिटने दो/वह सपना है।

कवि कुँवर नारायण काव्य को मनुष्य के कृत्रिम सत्यों से अनुशासित होने का एक उपक्रम मात्र ही मानते थे।

जैसे एक जंगली फूल की आकस्मिकता
मुझसे कौंध कर मुझसे अलग ही हो गयी कविता
और मैं छूट गयी हूं किसी/जहन्नुम के खिलाफ
एक अदद जुलूस/एक अदद हड़ताल
अपने को देश की फटी जेब से सम्भाले
सोचता हुआ कि प्रभो!
अब कौन किस-किस के नरक से निकाले!

कुँवर जी ने आधुनिक कविता के कई युगों को देखा और परखा था। आत्म संवेदनाओं को उन्होंने अपनी सृजनशीलता में महत्वपूर्ण स्थान दिया था। वह जरूर अज्ञेय जी की दृष्टि में नयी कविता के समर्थ कवि रहे पर उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति छायावादी कवियों के ज्यादा निकट दिखाई देती है। 'गुड़ियां उनकी' एक प्रसिद्ध कविता है जिसमें कवि कुँवर नारायण जी मेले में खरीदी गुड़िया के माध्यम से उनके बचपन से लेकर शादी में ओढ़ने वाली चुनरी तक का जो संवेदनात्मक बखान जन सामान्य के समक्ष प्रस्तुत किया है। वह बड़ा ही मार्मिक हृदयस्पर्शी है।

मेले से लाया हूँ इसको/छोटी सी प्यारी गुड़िया
कपड़ा ला दूँ जो वर ला दूँ/बिन्दी ला दूँ
बीच-बाजार आज तू गुड़िया
मेरे हाथ निकली/ला दूँ वृद्ध दूल्हा
तू इतराती धूम और वह/घर पर फूंको चूल्हा
सब नादान, अनाड़ी सब/दुनियां बने तमाशा।

कुँवर जी काव्य संग्रहों के नामों के प्रति भी सतर्क रहे। उनका पहला काव्य संग्रह 'चक्रव्यूह' बिल्कुल नाम के अनुरूप 'महाभारत' के अभिमन्यु के कथानक पर सृजित है। इससे यह सिद्ध होता है कि उनके मन में काव्य के नामकरण और उसकी काव्य कथा का अन्तःसम्बन्ध हमेशा बना रहा। वह प्राचीन कथा को नवीन सन्दर्भ में उद्घाटित करने वाले एक विशिष्ट कवि थे। चक्रव्यूह काव्य की अनेक पंक्तियां इसकी साक्ष्य हैं -

प्रारब्ध जिसका गर्भ में ही हो चुका निश्चित
अपरिचित जिन्दगी के व्यूह में फेंका हुआ उन्माद
बाधा पंक्तियों को तोड़
क्रमशः लक्ष्य तक बढ़ता हुआ जयनाद।

चक्रव्यूह, आत्मजयी जैसे काव्य संग्रहों में वह अस्तित्व की पहचान के प्रति सतर्क और चिन्तित रहे, तो अपने सामने काव्य संग्रहों की कविताओं में मुक्ति कैसी होगी अकेलापन, मृत्यु के भय के प्रति 'स्व' को जीवन्त रखने की कोशिश भी करते रहते हैं-

किसी भी क्षण/आक्रमण कर सकने वाला
एक बर्बर ताकत वह/क्या चाहती है?
क्या है मेरे पास/उसको देने लायक
जिसे उसकी तरफ फेंककर/अपने को बचा लूँ।

कुँवर नारायण जी अर्जेन्टीना के चिन्तक कहानीकार 'होर्खे लुईस बोर्खेस से बड़े प्रभावित रहे। कविता उनके जीवन को अभिन्न अंग थी। कविता को बिछाते और ओढ़ते रहे जीवन भर। दार्शनिकता एवं प्रेम भी उनकी काव्यधारा के केन्द में रहें। वह प्रेम की मानवीय संवेदना को प्रिज्म की भांति विभिन्न कोणों से देखने का प्रयास करते है। प्रेम की यादों, नई सुबह देने वाला, अमलतास के फूलों तक फैला हुआ मानते हैं। एक कविता में वे जब लोगों से घृणा करना चाहते हैं तो उसमें उन्हें असमर्थता का अनुभव होता है। वे प्रेम को सर्वोपरि मानने वाले कवि थे। लिखते भी हैं-

अंग्रेजों से नफरत कराना चाहता/
तो शेक्सपीयर आड़े आ जाते
जिनके मुझ पर न जाने कितने एहसान हैं
मुसलमानों से नफरत करने चलता/
तो सामने गालिब आकर खड़े हो आते
अब आप ही बताइए/
किसी की कुछ चलती है/उनके आगे।

कुँवर जी जीवनभर काव्य के रूपों को कई तरह से पारिभाषित करते रहे। उन्होंने जब काव्य में अपनी उपस्थिति दर्ज करायी, तो वह दौर नई कविता का था। लक्ष्मीकान्त वर्मा, जगदीश गुप्त, मुक्तिबोध, अज्ञेय, रघुवीर सहाय, भवानी प्रसाद मिश्र, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता आदि बहुत से कवि उनके समकालीन रहे थे और उनके बीच वह अपनी कविताओं के कारण हमेशा चर्चित रहते। 'आत्मजयी' में वह मानवीय व्यक्तित्व के मूल्यों की खोज करते हैं। नाचिकेता के शंकर वेदान्त और अद्वैतवाद के धरातलीय स्वरूप को काव्य के माध्यम से उन्होंने व्याख्यित किया। यह नयी कविता में एक नया प्रयोग है। 'आत्मजयी' की कुछ पंक्तियां इसकी प्रामाणिकता सिद्ध करती हैं -

बार-बार धारण करूँ इसी भोग सामग्री को ग्रहण करूँ
इससे छूटा रहकर/अपनी अपूर्व रचना में
एक कलाकार ईश्वर की तरह अनुपस्थिति
अथाह समय में जीयूँ
केवल आत्मा/अमरत्व/और आश्चर्य

वह संसार और जीवन दोनों में समान रूप में जीने का प्रयास करते रहे। यही कारण है कि अनुभूति के सहारे वह अनुभव को कविता से जोड़ते हैं। "परिवेश हम तुम" की भूमिका में उनका स्वयं का कथन है - "कवि मूलतः

विचारक नहीं, आवश्यक विचारक भी है। उसका काम हमें बौद्धिक बनाना नहीं, बुद्धिमता के प्रति संवेदनशील बनाना है। हमारी समझ के उपकरणों को पैना रखना है, ताकि हम वास्तविकता को बुद्धि, मन और प्रज्ञा के विभिन्न स्तरों पर साथ-साथ ग्रहण कर सके।"

कुँवर नारायण ने अपनी कविताओं को सरल सुगम बनाने का भरसक प्रयास किया। यदि कहीं उन्होंने कविता में अकेलेपन के साथ मृत्यु का भय दिखाया है तो अस्तित्व के पहचान की भी उन्हें चिन्ता है। आशा-निराशा के कई पहलू उनकी कविता में खूब व्यंजित हुये हैं। सप्तक कविता 'पगडण्डी' में वह स्वयं काल के समक्ष चलते हैं -

मैं तुम्हें बल दूँगा आशा से चलने का
दूँगा संकेत/तुम्हें लक्ष्य तक पहुँचाने का
खोये की दुविधा से तुमको बचाऊँगा
जीवन के राजमार्ग से तुम्हें मिलाऊँगा
मैं अनीद पथ हूँ/एक जागते तपस्वी सा।

कुँवर नारायण छायावाद की प्रकृति चेतना से विशेष प्रभावित दिखायी देते हैं। उन्होंने 'बसन्त की लहर' कविता में जीवन की हरीतिमा को लोभ संवरण के आकार में, जिस तरह अपनी काव्य चेतना में व्यंजित किया है। वह उनके काव्य व्यक्तित्व को पूर्ण व्याख्यार्कित करता है -

वही जो कुछ सुन रहा हूँ कोकिलों में
वही जो कुछ हो रहा, तम को पलों में/
वही जो कुछ ढूंढ़ते हम सब दिलों में
वही जो कुछ बीत जाता है पलों में

कुँवर जी की कविताओं में सामाजिकता का जो स्तर दिखता है, वह निःसन्देह आचार्य नरेन्द्र देव और डॉ. राम मनोहर लोहिया का ही सामाजिक दर्शन है। जिसे उन्होंने स्वीकार भी किया है। वह नई कविता में काव्य रचना स्वयं के पैरामीटर से नाप कर करते थे। 'आत्मजयी' और 'वाज्रश्रवा के बहाने' काव्य संग्रह इसके प्रमाणिकता के साक्ष्य हैं। 'आत्मजयी' में जहाँ नाचिकेता केन्द्र में है वहीं वाज्रश्रवा के बहाने में नाचिकेता के पिता 'वाजश्रवा' केन्द्र में हैं। उन्होंने इतिहास और दर्शन को व्यंजित किया है।

तीसरे सप्तक के कवियों में संग्रहीत कुँवर नारायण की उपस्थिति से तीसरे सप्तक के कवियों को और मजबूती मिली। यदि तीसरे सप्तक के कवियों एवं उनकी कविताओं की सही पड़ताल निष्पक्ष रूप से किया जाये तो कुँवर नारायण, केदारनाथ सिंह, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और विजय देव नारायण शाही ही ऐसे कवि रहे, जिन्होंने 'अज्ञेय' जी के तीसरे सप्तक को नई कविता के ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में प्रमाणित कराया। आज के बदलते काव्य प्रतिमानों के प्रति वह हमेशा सतर्क रहे। वह नई कविता के एक ऐसे रचनाकार रहे, जिन पर कभी कोई विवाद नहीं रहा। कविता प्रेम के साथ वह सदा सर्वदा मानव प्रेम के प्रति भी प्रतिबद्ध रहे। लखनऊ का उनका घर हमेशा कला, संगीत, साहित्य और सिनेमाकारों के लिए खुला दरबार था। सत्यजीत रे, अमीर खाँ जैसे न जाने कितनी नामचीन हस्तियाँ उनसे मिलने अक्सर लखनऊ आती। लेकिन विगत अनेक वर्षों से दिल्ली प्रवास के दौरान उनका घर (लखनऊ) बस यादों में बस कर रह गया था। 'मुक्तिबोध' की मृत्यु पर उन्होंने लगभग पांच दशक पूर्व जो कहा था वह उन्हीं पर लागू होता है।

कुँवर जी हमेशा कविता में कुछ नया करने की कोशिश में रहे। वह कविता को जीवन की वास्तविक धारा मानने वाले कवि रहे हैं। 'चक्रव्यूह' और 'आत्मजयी' की कविताएं जितना प्राचीनता का बोध कराती है। उससे ज्यादा नवीनता के कई पहलुओं को आज के बदलते समय को परिभाषित करती नजर आती हैं। जहां 'चक्रव्यूह' काव्य संग्रह में दार्शनिकता का भाव दिखलाई पड़ता है वहीं 'आत्मजयी' में वह भारतीय वेदान्त के साथ-साथ अस्तित्ववाद के वैयक्तिक पक्ष से जुड़े दिखाई देते हैं। दोनों संग्रहों (चक्रव्यूह और आत्मजयी) में कवितायें पृथक-पृथक हैं पर उनका आत्मसम्बन्ध स्वर एक है। वह कविता की सार्थकता को सही तब मानते हैं जब वह हमें मानव बनाने में सहायक हो। उनकी कविता की कुछ पंक्तियां इसकी गवाह हैं -

कविता वक्तव्य नहीं, गवाह है/कभी हमारे सामने
कभी हमसे पहले/कभी हमारे बाद
कोई चाहे भी तो/रोक नहीं सकता
भाषा में उसका बयान/जिसका पूरा मतलब है सच्चाई
जिसकी पूरी कोशिश है बेहतर इन्सान।

कुँवर जी अध्यात्म, दर्शन और भारतीय संस्कृति के साथ विश्व संस्कृति के कुशल सृजनकर्ता थे। उनकी दृष्टि सम्पूर्ण विश्व के कल्याण में निहित थी। वह काव्य की रचना प्रक्रिया में भारतीय काव्य शास्त्र में निहित अभिधा, लक्षणा, व्यंजना को काव्य की आवश्यकता तो मानते थे परन्तु साथ ही साथ कविता को सही और अर्थ बनाने में उसके बदलाव के भी पक्षधर थे। वह कविता को जीवन का अभिन्न मानते थे। 'कोई दूसरा नहीं' काव्य संग्रह में जीवन के बारे में अनेक कविताओं का होना इसकी पूर्ण सार्थकता सिद्ध करता है। उनकी कविता की कुछ पंक्तियां इसके साक्ष्य में उनके काव्य संग्रह 'कोई दूसरा नहीं' में दिखलाई पड़ती है।

क्योंकि बहुत कुछ हो सकती है कविता
जिन्दगी में/अगर हम जगह दें उसे
जैसे फूलों को जगह देते है पेड़
जैसे तारों को जगह देती है रात

प्राचीन, मध्य कालीन व्यक्तियों अमीर खुसरो, नचिकेता, वाज्रश्रवा और इब्नबतूता पर लिखी उनकी कवितायें यह सिद्ध करती हैं कि उनका महत्व और व्यक्तित्व जन को पता चल सके। कुँवर जी की गिनती एक बौद्धिक संवेदनात्मक कवि के रूप में रही। वह सदैव जीवन की सार्थकता का प्रश्न उठाते रहे। 'आत्मजयी' मे 'नाचिकेता' को उन्होंने इसी प्रतीकात्मक रूप में रखकर रचना की। उनके अन्य काव्य संग्रहों में भी वह इसी प्रारूप में दिखलाई पड़ते रहे। गजानन माधव मुक्तिबोध ने उनकी इसी दृष्टि को परखते हुये कुँवर जी की 'परिवेश हम-तुम' की समीक्षा में स्पष्ट लिखा - "महत्व की बात यह है कि आज, जबकि साधारणत: लेखक और कवि इसी व्यवहार क्षेत्र में कार्यकुशल होकर अपने को अधिकाधिक सफल और प्रभावशाली बनाने के प्रयत्न में लीन रहते हैं। कुँवर जी हमेशा सर्वहारा के प्रतीक रूप में जाने जाते रहे। अयोध्या में बाबरी मस्जिद के नियोजित ध्वंस पर राम को सम्बोधित करते हुए वे लिखते हैं -

अयोध्या/इस समय तुम्हारी अयोध्या नहीं
योद्धाओं की लंका है/मानस तुम्हारा चरित्र नहीं
चुनाव का डंका है।

एक प्रकार से कहें कि असहिष्णुता, द्वेष और बुद्धिजीवियों, अल्पसंख्यकों के प्रति बढ़ती हिंसात्मक प्रवृत्ति से वह विचलित हो गये थे। प्रख्यात कवि मंगलेश डबराल उनके व्यक्तित्व की पड़ताल करते हुए लिखते हैं - "दुनिया में लड़ने-झगड़ने के लिए इतना सब कुछ होने के बावजूद पूरा जीवन जरा से प्यार में बिता देने वाले कुँवर नारायण जितने बड़े नैतिक कवि थे उतने ही नैतिक मनुष्य भी थे। कह सकते है कि नैतिकता ही उनकी राजनीति थी।"

कवि कुँवर नारायण अपनी कविताओं में अतीत, वर्तमान और भविष्य को रेखांकित करते हुए चलते हैं। वह जीवन को अपना सम्मोहन मानते हैं। वह नियति की निश्चित मृत्यु के बावजूद अन्दर से जीने की साधते हैं।

उनके स्वयं का मानना है कि मनुष्य के साहस से बड़ा कोई नहीं है। वह अपनी कविता में लिखते हैं -

कोई दु:ख
मनुष्य के साहस से बड़ा नहीं
वही हारा
जो लड़ा नहीं।

कुँवर जी साहित्य विधा में कविता के प्रति हमेशा सतर्क रहे। आज जिस तरह कविता लिखने और कविता की पठनीयता हाशिये पर चली गयी, उससे डर-सा लगने लगा है। कोई पढ़ेगा कि नहीं, पर कवि कुँवर नारायण जी को कविता की ताकत पर अभी भरोसा है -

कि कविता अब कविता नहीं रही/और यूं फैली
कि कविता अब नहीं रही/
यकीन करने वालों ने यकीन कर लिया
कि कविता मर गयी/लेकिन शक करने वालों ने शक किया कि ऐसा हो ही नहीं सकता

और इस तरह बच गयी कविता की जान। कवि कुँवर अपनी कविताओं में हमेशा कुछ संदेश देते चलते हैं। गुलाम होने, मजदूरों के रूप में विदेशों मे जाने और फिर अपने देश के सोने के लूट जाने का डर उन्हें सताता है और वह अपनी कविता 'क्या वह नहीं होगा के' माध्यम से सचेत करते नजर आते है कुछ पंक्तियां दृष्टव्य हैं -

क्या फिर वही होगा/जिसका हमें डर है?
क्या वह नहीं होगा/जिसकी हमें आशा थी?
क्या वे खरीद ले जायेंगे/हमारे बच्चों को दूर देशों में
अपना भविष्य बनवाने के लिए?
क्या वे फिर हमसे उसी तरह
लूट ले जायेंगे हमारा सोना
हमें दिखाकर कांच के चमकते टुकड़े?

जीवन में प्रेम और विश्वास एक आवश्यकता ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जीवन इन्हीं दो स्तम्भों पर चलता है। संसार को देखने और समझने में कवि का हृदय रूप जो निर्णय लेता है। वह प्रेम और विश्वास के द्वारा ही विकसित होता है। कुँवर नारायण भी इससे अछूते नहीं हैं वे लिखते हैं -

प्रेम की तरफ/विश्वास बनाये रखना
मनुष्य में/सिद्ध करते रहना
कि मैं टूटा नहीं।

कुँवर नारायण आधुनिक हिन्दी कविता के ऐसे हस्ताक्षर थे जिसकी भरपायी कर पाने में सदियां गुजर जायेंगी। आधुनिक कविता को स्थापित करने में उनका योगदान अविस्मरणीय है। ■

सन्दर्भ सूची

1. कुँवर नारायण - आत्मजयी
2. कुँवर नारायण - कोई दूसरा नहीं
3. कुँवर नारायण - चक्रव्यूह
4. कुँवर नारायण - परिवेश हम तुम
5. कुँवर नारायण - अपने सामने
6. कुँवर नारायण - वाज्रश्रवा के बहाने
7. नया ज्ञानोदय पत्रिका - दिसम्बर 2017
8. कादम्बिनी पत्रिका - दिसम्बर 2017
9. तीसरा सप्तक संपादक अज्ञेय 1959
10. नया प्रतीक पत्रिका संपादक अज्ञेय 1959
11. कल्पना पत्रिका सितम्बर 1959
12. परिवेश पत्रिका जनवरी 1982
13. कादम्बिनी दिसम्बर 2017
14. हंस, जनवरी 2018
15. साक्षात्कार 2018
16. लमही, जनवरी 2018
17. चुनी हुई कविताएं, कुँवर नारायण